दो शब्द

प्रिय पाठक,

आप यह पुस्तक पढ़ रहे हैं, इसका तात्पर्य है कि आप खैरागढ़ से जुड़े हैं। या तो आप खैरागढ़ी हैं या कभी खैरागढ़ में रहे हैं या इस नगर के बारे में जानने की इच्छा रखते हैं।
यह पुस्तक खैरागढ़ को जानने और उससे अपने जुड़ाव को मजबूत बनाने में आपकी मददगार होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।
इस पुस्तक को पढ़ लेने के बाद हमें यह अवश्य बताएँ कि हमारा यह अभिनव प्रयास आपको कैसा लगा। हम इस शृँखला में अन्य पुस्तकें भी लाना चाहते हैं। कृपया बताएँ कि आप किन अन्य खैरागढ़ियों के संस्मरण पढ़ना चाहेंगे। यह भी बताएँ कि इस पहली पुस्तक में किस तरह की कमियाँ रह गईं, ताकि अगली कड़ियों में उन्हें दूर किया जा सके।
आशा है, पुस्तक आपको पसंद आएगी।
शुभकामनाओं सहित,

बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु'
(संयोजक और सम्पादक)
डॉ. बख्शी मार्ग, खैरागढ़- 491881
मोबाइल- 09424111454
ईमेल- ggbalkrishna@gmail.com

खैरागढ़

यादों का वर्तमान



संयोजन और सम्पादन

बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु'

खैरागढ़
यादों का वर्तमान

संयोजन और सम्पादन

बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु'

सम्पादक- **बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु'**

प्रकाशक- **स्वयं**

संस्करण- **दिसम्बर, 2015**

पुस्तक का प्रकाशन जन्मभूमि से लगाव की अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है। इसका कोई व्यावसायिक उद्देश्य नहीं है।

लेख में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, उनसे सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

लेखन और सम्पादन में यथासम्भव सावधानी बरती गई है। बावजूद इसके कोई तथ्यात्मक त्रुटि नज़र आए, तो कृपया सूचित करें, ताकि अगले संस्करण में उसे सुधारा जा सके।

सम्पर्क

डॉ. बख्शी मार्ग, खैरागढ़- 491881, **फोन-** 09424111454, **ईमेल-** ggbalkrishna@gmail.com

यादों की क़लम

क्या भूलूँ, क्या याद रखूँ? प्रश्न बहुत बड़ा है, पर है बहुत सरल। मीठा-मीठा गप-गप, कड़वा-कड़वा थू-थू। कहते हैं कि समय बड़े से बड़े घाव को भर देता है, इसलिए हर समझदार उसे कुरेदने की जगह दफ़नाना चाहता है। घटना बड़ी भी हो, तो ख़ास नहीं बनाना चाहता। दूसरी ओर, कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें वह स्मरण करना चाहता है और दूसरों के साथ साझा भी, क्योंकि दूसरे भी उन्हें जानने, सुनने तथा समझने के लिए उत्सुक होते हैं। हालाँकि यह व्यक्ति, स्थल एवं समय पर निर्भर करता है कि वह क्या भूले, क्या याद रखे।

आमनेर, मुस्का और पिपरिया नामक नदियों के मध्य बसा खैरागढ़ नगर मेरी जन्मभूमि होने के साथ कर्मभूमि भी है, जो साहित्य और संगीत के क्षेत्र में योगदान के लिए देशभर में जाना जाता है। खैरागढ़ का रियासतकालीन इतिहास सन् 1487 से नवम्बर 1990 तक, लगभग 500 वर्षों का है, परंतु शहर से लगे चाँदमारी से प्राप्त पाषाणकालीन अस्त्र-शस्त्र इसके इतिहास को बहुत दूर तक ले जाते हैं। यहाँ भारतीय संगीत और ललित कलाओं के लिए समर्पित, अपनी तरह के भारत के पहले विश्वविद्यालय के तमाम विभागों की अपनी विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं।

प्रथम नागवंशी राजा, परगनाधीश खोलवा के लक्ष्मीनिधिकर्ण राय (1487) से चौबीसवें राजा, राजाबहादुर वीरेंद्र बहादुर सिंह (28 नवम्बर, 1990) तक के वैभवशाली इतिहास को समेटे खैरागढ़ की शान और पहचान में नए रत्न जुड़ते रहे हैं। इक्कीसवें राजा, लाल उमराव सिंह द्वारा 1885 में स्थापित वर्नाकुलर अँग्रेज़ी स्कूल वर्तमान में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी शासकीय बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक शाला के नाम से अपने गौरवशाली इतिहास और भविष्य की उम्मीदों के बीच तैर रहा है। सत्रहवें राजा टिकैतराय के पुत्र दाऊ गजराज सिंह, जिन्हें लोग दाऊ साहब कहते थे, बड़े बुद्धिमान और नीति कुशल थे। दाऊसाहब का स्वर्गवास होने के बाद मुस्का नदी के उस पार दाऊचौरा के नाम से जो मंदिरनुमा चबूतरा बना है, वह आपका ही द्योतक है। बाईसवें राजा कमल नारायण सिंह अच्छे संगीतज्ञ और साहित्यकार थे, जिन्होंने कमलनारायण विनोद, कमलनारायण प्रहस, कमलनारायण प्रकाशमाला, शीतला यशमल्लिका और दिल्ली दरबार आदि ग्रंथों की रचना की थी।

हिन्दी, अँग्रेज़ी, संस्कृत आदि भाषाओं के ज्ञाता, सरस्वती पत्रिका के सम्पादक, महान साहित्यकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के नाम पर भी खैरागढ़ की पहचान देशभर में रही है।

एक था खैरागढ़। एक है खैरागढ़। बख्शी जी भी खो गए खैरागढ़ को याद करते थे। खैरागढ़ लगातार बदल रहा है। और जो बदला है, वह कहीं खोया नहीं है, बल्कि दिलों और यादों में हमेशा के लिए संरक्षित हो चुका है। हम इसी खैरागढ़ को वर्तमान में ले आए हैं। इस किताब में अलग-अलग आयुवर्ग और पेशे से जुड़े लोगों के संस्मरण हैं। प्रायः सभी लोग मीठा-मीठा याद करते हैं, पर कुछ लोग खारा या कड़वा भी कभी-कभी याद कर लेते हैं कि चलो, जो कड़वा था, बुरा था, बीत गया। अच्छा हुआ। कुछ अपनों को याद करते हैं और कुछ दूसरों को भी याद करते हैं। बहरहाल, याद सब करते हैं। कुछ लोग दूसरों से बाँटते भी हैं- बातचीत में, लिखकर या अन्य तरीक़ों से। यह पुस्तक भी अपनी कहने, दूसरों की सुनने और इस तरह खैरागढ़ को उसकी सम्पूर्णता में जानने-समझने में सहायक होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

इस पुस्तक की योजना और प्रकाशन के दौरान मुखपृष्ठ से लेकर सामग्री के स्वरूप तक, बहुत-से अच्छे सुझाव मिले। लेखकों का रचनात्मक सहयोग मिला। साहित्यिक अभिरुचि वाले युवा पत्रकार अनुराग तुरे ने आरम्भिक सहयोग दिया। लाल लक्ष्मीनारायण सिंह, किशनराज छाजेड़ और अनिल जैन ने विज्ञापन के ज़रिए आर्थिक सम्बल दिया। मैं सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

मुझे उम्मीद है कि यादों का यह सफ़र जारी रहेगा, 'यादों का वर्तमान' की कड़ियाँ प्रकाशित होती रहेंगी। शहर की युवा पीढ़ी प्रतिभाशाली के साथ जागरूक भी है। अनुराग तो 'शांतिदूत' के माध्यम से सक्रिय हैं ही, भागवत शरण सिंह भी शहर से जुड़े मुद्दों को लेकर विभिन्न मंचों पर मुखर हैं। प्राकृत शरण सिंह सम्पूर्ण मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ को कार्यक्षेत्र बनाने के बावजूद जन्मभूमि से जुड़ाव बनाए हुए हैं। यह जुड़ाव, यह चिंता अविनाश पाठक, सूरज यदु, राजू यदु जैसे युवाओं में भी नज़र आती है। चैत्येंद्र बंटी तिवारी युवा के साथ-साथ वरिष्ठ भी हैं। इसी तरह खिलेंद्र नामदेव, यतेंद्रजीत सिंह, जितेंद्र गौर, आलोक श्रीवास, जितेंद्र जीतू यादव आदि नौजवानों की लेखनी भी निरंतर चल रही है। यदि पुस्तक श्रृंखला की अगली कड़ियों के लिए यह पीढ़ी पहल करती है, तो मार्गदर्शन और सहयोग देकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।

संयोजक और सम्पादक

अनुक्रम

तब सचमुच और बात थी

*हमारी पहचान, नगर के गौरव, महान साहित्यकार **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** याद कर रहे हैं और ढूंढ़ रहे हैं अपने बचपन के खैरागढ़ को, 1903 के खैरागढ़ को*

खैरागढ़ मेरा जन्मग्राम है। सभी लोगों को अपने जन्मग्राम के प्रति एक विशेष ममता रहती है। पर मेरे लिए खैरागढ़ असाधारण है। यहाँ न तो प्राकृतिक सौंदर्य की विलक्षणता है और न ही मानवीय विभूति का प्रदर्शन। फिर भी यह मेरे लिए विशेष रूप से मनोरम है। बाहर से आते समय जब कोई चार मील से उसकी झलक दिखाई देती है, तब उसकी शोभा नेत्रों को तृप्त कर देती है। हरे-हरे वृक्षों से आच्छादित वाटिकाओं में जो एक उज्ज्वल ज्योति चमक उठती है, वह मेरे समान आगंतुकों के लिए स्नेह की दीप्ति बन जाती है।

मैं प्रायः सोचा करता हूँ कि मेरा 1903 का खैरागढ़ कहाँ चला गया! वही नदी है, पर वह 'दहरा' कहाँ है? वही क़िला है, पर वह अट्टालिका कहाँ है? वही सड़क है और वही नगर है, परंतु सरलता और उदारता के वे मूर्तिमान स्वरूप लोग कहाँ हैं? उस समय की रीति-नीति कुछ दूसरी ही थी। उस समय जीवन में स्फूर्ति थी, उमंग थी, उत्साह था। वह कुछ दूसरा ही युग था। तब वैभव नहीं था, उदारता थी। तब शिष्टाचार और सभ्यता का प्रसार नहीं था, स्नेह था, सहानुभूति थी और प्रेम तथा सेवा का भाव था। तब नगर एक कुटुम्ब-सा था, जाति और धर्म का व्यवधान स्नेह का बाधक नहीं था। कोई किसी का चाचा था, तो कोई किसी का मामा। सभी लोग भ्रातृभाव के एक सूत्र में बंधे थे। तब सचमुच और बात थी। तब मैं बालक था और अब वृद्ध हो रहा हूँ।

खैरागढ़ एक छोटा-सा नगर है। रेलवे स्टेशन से दूर होने के कारण वह न तो व्यापार का स्थल है, न किसी उद्योग का। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में भी वह अभी तक न आया। अभी तक कुछ ही लोगों में पाश्चात्य-शिक्षा बद्ध है। अधिकांश लोग अशिक्षित ही हैं। पर शिक्षित हों या अशिक्षित, प्रायः सभी लोगों का जीवन एकमात्र राज्य के आश्रय पर ही निर्भर है। सभी लोग किसी न किसी

रूप में खैरागढ़ नरेश के ही अनुचर हैं। उन्हीं के राज्य में किसी न किसी काम, किसी न किसी पद पर रहकर सभी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। यही कारण है कि राजा साहब के व्यक्तिगत जीवन का प्रभाव यहाँ के निवासियों पर सबसे अधिक पड़ता है। मेरे जीवन के आदिकाल में खैरागढ़ के नरेश थे राजा कमल नारायण सिंह। उन्हें संगीत से प्रेम था, इसी से कितने ही लोग उनके यहाँ संगीत के प्रेमी थे। उन्हें हिन्दी साहित्य से भी अनुराग था। इसी से यहाँ कितने ही साहित्य-प्रेमी थे। मेरे घर में भी हिन्दी साहित्य की अच्छी चर्चा थी। मेरे प्रपितामह, उमराव बख़्शी छत्तीसगढ़ के एक प्रमुख कवि माने जाते थे। उनके पुत्रों में मुकुंद बाबू और दरियाव बाबू भी कविता की रचना किया करते थे। अपने पिता की कुछ रचनाएँ मैंने स्वयं पढ़ी हैं। मेरे पड़ोस में पंडित नंदकिशोर झा हिन्दी काव्य के मर्मज्ञ विद्वान थे। ये कवि भी थे। शम्भुगिरि महाराज भी प्रसिद्ध कविता-प्रेमी थे। मैं अपने बाबू काका के साथ अत्यंत छोटी अवस्था में इन लोगों के पास जाकर बैठता और तरह-तरह की साहित्य-चर्चा सुनता था।

इसमें संदेह नहीं कि मैंने अपने बाल्यकाल में अपने गाँव के भीतर साहित्य का एक विशेष वातावरण पाया। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि अब मेरे गाँव में शिक्षा और सभ्यता की विशेष वृद्धि हो गई है, तो भी अब साहित्य का वह वातावरण नहीं रहा। उस समय मैंने लोगों में साहित्य के प्रति एक विशेष अनुराग पाया। उस समय साहित्य प्रेमियों के तीन दल थे। एक दल अशिक्षित लोगों का था। वर्षाऋतु में आल्हाखंड के वीररसपूर्ण पद्यों को सुनने के लिए कितने ही लोग किसी दालान में एकत्र हो जाते थे। उस समय आल्हाखंड को पढ़ने या रटने में देवसिंह की बड़ी प्रसिद्धि थी। यह जब ढोलक के साथ गाता था, तब हम सभी श्रोताजन मंत्रमुग्ध-से हो जाते थे।

आल्हा गाने वालों के अतिरिक्त भजन गाने वालों का भी एक दल था। उस दल के अधिकांश लोग अपढ़ या अल्पशिक्षित होते थे। विशेष उत्सवों के दिन वे जगह-जगह एकत्रित होकर भजन गाया करते थे। भजन में भी धूम-सी मच जाया करती थी। शीतला के यश में जो भजन गाए जाते थे, उनमें भिन्न-भिन्न दलों द्वारा एक प्रतियोगिता का भाव प्रदर्शित किया जाता था। अधिकांश भजनों में सूरदास, कबीरदास और तुलसीदास के नाम लिए जाते थे। परंतु यथार्थ में वे भजन अज्ञात कवियों की रचनाएँ हैं। शीतला यश मल्लिका में भी कितने अप्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ सम्मिलित हैं। ये सभी गीत अपने-अपने विषय में ख़ूब लोकप्रिय हुए। उन गीतों में परिवर्तन भी अभी तक होता गया है। केवल पुरुषों में ही नहीं, स्त्रियों में भी जो गीत अब प्रचलित हो रहे हैं, उनमें सिनेमा के गीतों का स्पष्ट अनुकरण किया गया है। इनके बाद शिक्षित लोगों का दल आता है। उनमें कुछ व्याख्याता होते हैं और कुछ रचयिता भी।

अपने बाल्यकाल में मैंने रामचरितमानस, रामरसायन, रामचंद्रिका और बिहारी सतसई के भी व्याख्याताओं के प्रवचन सुने थे। किसी मंदिर में एकत्र होकर श्रोताजन ऐसे व्याख्याताओं के प्रवचन सुना करते थे। खैरागढ़ में सबसे अधिक प्रसिद्धि नंदकिशोर झा की थी। वे कवि भी थे। उनके

अतिरिक्त अन्य कितने ही लोग कविताओं की रचना करते थे। स्वयं राजा कमल नारायण सिंह जी के सम्बंध में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने कुछ रचनाएँ कीं और कुछ रचनाएँ अपने आश्रित कवियों के द्वारा भी करवाईं। राजा कमल नारायण सिंह जी के नाम से दो-तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कभी-कभी बाहर से भी कुछ विज्ञ आ जाते थे। विक्टोरिया हाईस्कूल या दंतेश्वरी के मंदिर में कितने ही ऐसे विज्ञों के चिंतनपूर्ण व्याख्यान मैंने सुने।

यह संयोग की बात है कि हाईस्कूल में प्रविष्ट होते ही मैं अपने प्रांत के वर्तमान मुख्यमंत्री पंडित रविशंकर जी शुक्ल के सम्पर्क में आया। वे उस समय विक्टोरिया हाईस्कूल के हेडमास्टर थे। जब वे खैरागढ़ में हेडमास्टर होकर आए, तब मैं बिल्कुल छोटा था। परंतु उन्हीं दिनों मैं हिन्दी कथा-साहित्य के मायालोक में प्रविष्ट हो चुका था। सन् 1903 कितनी ही बातों के लिए मेरे लिए चिरस्मरणीय वर्ष है। इसी वर्ष खैरागढ़ में पहली बार प्लेग का आगमन हुआ। मेरे एक सहपाठी तत्कालीन दीवान साहब के सबसे छोटे पुत्र थे। उन्हीं पर सबसे पहले प्लेग का आक्रमण हुआ। सभी लोग खैरागढ़ छोड़कर भाग निकले। सुना कि हम लोगों के हेडमास्टर शुक्ल जी ही उस लड़के की सेवा के लिए रुक गए। उस लड़के की तो मृत्यु हो गई, परंतु खैरागढ़ के सभी लोगों के हृदय-सिंहासन पर शुक्ल जी अनायास ही अपने उसी एक कृत्य से आसीन हो गए।

शुक्ल जी के समय में विक्टोरिया हाईस्कूल में डिबेटिंग सोसाइटी की बैठक एक महत्वपूर्ण बात थी। उसमें मास्टर और छात्र ही नहीं उपस्थित रहते थे, परंतु नगर के कितने ही विज्ञ जन सम्मिलित होते थे। लगभग तीन बजे से बैठक प्रारम्भ होती थी और आठ-नौ बजे रात्रि तक उसकी समाप्ति नहीं होती थी। मैं इतना छोटा था कि विवाद के विषय को समझ नहीं सकता था। जब और लोग ताली पीटते थे, तब मैं भी ताली पीटता था। पर मन में एक विस्मय और कौतूहल का भाव अवश्य उत्पन्न होता था। सोचता था कि इन वक्ताओं में वह ज्ञान की कैसी गरिमा होगी, जिसके कारण इतने लोग यहाँ मंत्रमुग्ध बैठे हैं।

उन दिनों स्कूल की कुछ दूसरी ही रीति थी। लड़कों के लिए बेंतों की सज़ा अत्यंत साधारण बात थी। बेंत की गणना स्कूल मास्टरों के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तुओं में होती थी। ऐसा कोई भी मास्टर नहीं था, जो बेंत लेकर नहीं जाता था और कदाचित ऐसा कोई भी मास्टर नहीं था, जिसको दूसरे दिन फिर नई बेंत की आवश्यकता न पड़े। स्कूल से भाग जाने वाले विद्यार्थियों के लिए एक चपरासी भी नियुक्त था। उसका काम था खोज-खोजकर विद्यार्थियों को पकड़ लाना। सारे स्कूल में 50 से अधिक विद्यार्थी रहे भी नहीं। इसलिए छोटे-बड़े सभी छात्रों पर मास्टरों और हेडमास्टर की दृष्टि रहती थी। अभाग्यवश या सौभाग्यवश उन दिनों मैं देवकीनंदन खत्री के मायाजाल में बद्ध हो चुका था। स्कूल के पाठ मुझे अत्यंत नीरस प्रतीत होते थे। अवसर पाते ही मैं घर से 'चंद्रकांता संतति' का कोई भाग लेकर भाग जाता था। पर कभी न कभी मैं पकड़ा भी जाता था। तब मैं हेडमास्टर के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। कम से कम छह बेंतों की सज़ा तो मुझे

अवश्य ही मिलती थी। उसके बाद क्लास के भीतर भी मैं ख़ूब पिटता था। एक बार शुक्ल जी ने पूछा कि तुम स्कूल आते क्यों नहीं? मैंने कहा, एक टोनही के कारण मैं स्कूल नहीं आ सकता। शुक्ल जी ख़ूब हँसने लगे। परंतु उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारी टोनही को बेंतों की मार से भगा दूँगा।

यह बात वे अभी तक नहीं भूल सके। जब कभी वे खैरागढ़ आए, तब उन्होंने इस बात का उल्लेख अवश्य किया। यथार्थ में किसी चुड़ैल के मायाजाल से कहीं अधिक दृढ़तर पाश खत्रीजी के मायाजाल का था। मैं यह नहीं समझता था कि मैं 'भैरोसिंह' नहीं हो सकता। मैं टूटे-फूटे घरों में अवश्य घूमने जाया करता था। मैं खेतों में जाकर उस आसमानी रंग के फूल की खोज करता था, जिसके रस से जगन्नाथ ने वीरेंद्र सिंह को चैतन्य किया था। मैं तो छोटा था, पर मेरे इस काम में सहायक जो गजराज बाबू थे, वे ऊँची कक्षा में पढ़ते थे। यह सच है कि वे स्कूल से नहीं भागते थे। पर अवसर मिलते ही वे भी मेरे साथ घूमा करते थे। 'चंद्रकांता संतति' के मायाजाल में ये भी आबद्ध हो चुके थे। एक बार हम लोगों ने बड़े परिश्रम से एक बेहोशी की दवा तैयार की। हमें विश्वास था कि तम्बाकू के साथ किसी को वह दवा पिला देने से वह बेहोश हो जाएगा। हमने उसे एक व्यक्ति को दिया। वह गँजेड़ी था। उसे पीकर वह प्रसन्न हुआ। परंतु वह बेहोश नहीं हुआ।

कुछ दिनों के बाद शुक्ल जी चले गए। उनके स्थान पर एक दूसरे वयोवृद्ध विद्वान हेडमास्टर होकर आए। उनका नाम था बिहारीलाल शास्त्री। उनकी बड़ी प्रशंसा थी। तब तक अज्ञात रूप से मैं हिन्दी साहित्य से विशेष परिचित हो गया था। उस समय आर्यसमाज के शास्त्रार्थों की विशेष चर्चा हमारे नगर में होती थी। बिहारी लाल जी शास्त्री मध्यप्रांत के पहले ग्रेजुएट माने जाते थे। परंतु स्कूल में वह आतंक नहीं रहा, जो शुक्ल जी के समय था। बिहारीलाल जी तत्कालीन युवराज, दिवंगत राजा लालबहादुर सिंह के प्राइवेट ट्यूटर हो गए और उनके स्थान पर फिर शुक्ल जी नियुक्त हुए। मैं तब तक सेविंथ क्लास में पहुँच गया था और मेरी गणना अब साधारण अच्छे लड़कों में होने लगी थी। उन्होंने जब ट्रांसलेशन का पेपर जाँचा, तब उसमें मुझे सबसे अधिक अंक मिले। इस पर उन्होंने फिर मुझे बुलाकर कहा- 'देखो, तुम्हारी वह चुड़ैल किस तरह भाग गई?' फिर डेढ़ साल बाद वे एलएलबी की परीक्षा पास कर रायपुर चले गए और वहीं रहने लगे। जब खैरागढ़ में सोशल गेदरिंग की रजत जयंती मनाई गई, तब विशेष रूप से उन्हें आमंत्रण दिया गया। मैं भी विक्टोरिया हाईस्कूल में मास्टर था। उस समय उन्होंने बड़ा ही प्रभावशाली व्याख्यान दिया। उसका प्रभाव अब तक मुझ पर है।

....

1916 में जब मैं बीए पास कर मास्टर हो गया, तब मैंने दो साल विमला को पढ़ाया था। जब वह मैट्रिकुलेशन पास हो गई, तब उससे मेरा सम्बंध छूट-सा गया। कभी-कभी उसके या उसके भाई के पत्र आया करते थे। मैंने सुना कि उसका विवाह हो गया है। साहित्य से उसका विशेष अनुराग था। मैं किसी-किसी पत्र में उसकी रचना भी पढ़ता था। साहित्य के सम्बंध में उससे यदा-कदा पत्र

व्यवहार भी होता था। पर इस तरह सम्बंध बने रहने पर भी उसको फिर मुझे देखने का अवसर ही नहीं मिला। कुछ ही समय पहले मुझसे एक सात साल की लड़की ने आकर कहा- 'मैं अँग्रेज़ी पढ़ूंगी, तुम मुझे अँग्रेज़ी पढ़ाया करो।' मैंने कहा- 'अच्छी बात है।' उसने कहा- 'अच्छी बात मैं नहीं जानती। कल से तुम मेरे घर आना। वह पीला मकान मेरा है।'

वह पीला मकान नए डॉक्टर साहब का था। वे अभी हाल ही में आए थे। मैंने कहा- 'मैं आ तो जाऊँगा, पर तुम्हारे बाबू जी मुझे डाँटेंगे तो? उन्होंने तो मुझसे कुछ नहीं कहा है।' उसने उत्तर दिया- 'वे क्यों डाँटेंगे! मैंने माँ से पूछ लिया है। कल ज़रूर आना। मेरा नाम कुसुम है। भूलना मत।'

लड़की की बातचीत से मैं मुग्ध हो गया। दूसरे दिन मैं उसके घर गया। डॉक्टर साहब नहीं थे, पर उनकी पत्नी तुरंत ही बाहर आईं। उन्होंने कहा- 'आप मुझे नहीं पहचानते। मेरी माँ विमला देवी को आपने पढ़ाया है।' उसकी बात सुनकर मेरे मुँह से हठात् निकल पड़ा- 'तुम विमला की बेटी हो?' उसने हँसकर कहा- 'हाँ, मैं निर्मला हूँ और यह मेरी कुसुम है।'

मैं चकित हो गया। विमला तो अभी तक मेरे हृदय में 16 ही वर्ष की थी और उसकी लड़की 25 वर्ष की हो गई। तब मुझे सहसा ज्ञात हुआ कि मैं वृद्ध हो गया हूँ।

...मेरे इसी नगर में अभी ऐसे कितने ही वयोवृद्ध जन हैं, जिनके पास जाकर मैं अपनी वृद्धावस्था भूल जाता हूँ। वे मेरे पिता के समवयस्क हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उनमें से कितनों में तरुणावस्था की स्फूर्ति भी देखता हूँ। लाल प्रद्युम्न सिंह में किसी नवयुवक से कम विद्यानुराग नहीं है और वे अभी तक अपनी ज्ञान वृद्धि के लिए परिश्रम ही करते जा रहे हैं। हीरावल पोद्दार से अधिक संगीत-कला का उपासक कोई तरुण नहीं हो सकता। अपने इस कला प्रेम के कारण वे सदैव मुझे तरुण ही प्रतीत होते हैं। उनकी वाणी में जो मधुरता है, जो शक्ति है, वह कितने ही तरुणों में नहीं है। पंडित काशीदत्त झा से अधिक कार्य तत्परता मैंने किसी नवयुवक में नहीं देखी। यदि इन लोगों के समक्ष मैं वृद्धों की आदरणीय पंक्ति में बैठने का साहस करूँ, तो उपहास्पद ही बन जाऊँगा।

मैं कभी फुटबॉल खेला करता था और खैरागढ़ से छुईखदान तक दौड़ लगाया करता था। पर अब फुटबॉल खेलने की ओर ज़रा भी प्रवृत्ति नहीं होती। अब तो फुटबॉल ग्राउंड या क्रिकेट फील्ड में चुपचाप बैठकर देखने में आनंद आता है। उस समय जितेंद्र से कैच छूटने पर या जोधा से कुछ भूल होने पर हम लोग अपने समय के दिग्गजों की अपूर्वता का वर्णन करने लग जाते हैं। कस्तूरचंद और मिनाजुद्दीन की बॉलिंग और युधिष्ठिर तथा वंशबहादुर के खेल के वर्णन में वर्तमान तो बिल्कुल क्षुद्र हो जाता है। महाराज जी के बराबर अब कौन बैक खेलेगा! अतीत की इन्हीं भव्य बातों का स्मरण कर वर्तमान की ओर इतना उपेक्षा-भाव मन में आ जाता है कि उसमें सम्मिलित होने की ज़रा भी इच्छा नहीं होती। यही वृद्धावस्था का सच्चा लाभ है। यही कारण है कि शारीरिक शिथिलता और ह्रास का अनुभव करते हुए भी हम यह नहीं समझते कि हममें कोई अभाव है। संसार के कार्यक्षेत्र में हम युवकों के लिए आपसे आप स्थान छोड़ देते हैं, क्योंकि उसके लिए स्पृहा नहीं रह

जाती। वृद्धावस्था में जो गौरव का भाव आ जाता है, वह तारुण्य को तिरस्करणीय कर देता है। तारुण्य की लालसा, महत्वाकांक्षा, क्षिप्रता, अदूरदर्शिता सभी उसके लिए अग्रगण्य हैं।

'बख्शी ग्रंथावली खंड 6- संस्मरणात्मक निबंध' के अंश, साभार।
प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, सम्पादक- नलिनी श्रीवास्तव।

बाजिलो काहार बीना

*सुरों की दुनिया के अलौकिक अनुभवों के साथ-साथ विश्वविद्यालय के समृद्ध दौर से परिचित करा रहे हैं **डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव***

तुमि केमोन करे गान करो हे गुनी
आमि आबाक होये सुनी, केवल सुनी
सुरेर आलो भुवन फेलेछे
सुरेर हवा चले गगन बेये
पाषाण टूटे बेकुल बेगे धेये
बोहिया जाम सुरेर सुर धुनि
– रवींद्रनाथ ठाकुर

कैसा अद्‌भुत गाते हो तुम हे गुणी/ अवाक होकर मैं सुनता हूँ केवल सुनता हूँ/ सुर का आलोक फैला है सम्पूर्ण भुवन में/ बहता है आकाश में केवल सुर का समीर/ स्वर-ध्वनि से टूटकर बहे जा रहे हैं/ पाषाण व्याकुल वेग से।

भारत के युवा पीढ़ी के प्रसिद्ध सितार वादक बुद्धादित्य मुखर्जी के पिता विमलेन्दु मुखर्जी उन दिनों इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के कुलपति थे। मैं हिन्दी विभाग में रीडर था। हम लोग उन्हें 'दादा' कहते थे। वे स्वयं कलाकार थे। संगीत के प्रसिद्ध गुरुओं का सान्निध्य उन्हें मिला था। पेशे से वे इंजीनियर और प्रशासक थे। उनकी एक अन्य विशेषता उनके अद्‌भुत कलागुरु होने में भी थी। अपने पुत्र को संगीत कला की ऊँचाई तक पहुँचाने में उनके मार्गदर्शन का सबसे बड़ा हाथ था। सितार को वाद्य की प्रकृति, विशेषता और सीमा के अनुसार बजाने के वे हिमायती थे। रागों के

प्रस्तुतीकरण के सम्बंध में भी उन्होंने चिंतन किया था। शायद कुछ लोगों को यह न मालूम हो कि उनके योग्य पुत्र बुद्धादित्य भी इंजीनियरिंग के मेधावी छात्र रहे हैं, पर उन्होंने पूरम्पूर कलाकार बनना तय किया। आज वे अंतरराष्ट्रीय ख्याति के कलाकार हैं।

तो, दादा ने पहले अपनी हथेलियों को देखा। काँच के गोल पेपरवेट को उल्टा करके टेबल पर घुमाया। फिर उसे यथास्थान रखकर अपनी बड़ी रिवॉल्विंग चेयर पर पीठ टिकाकर आराम से बैठ गए। कुर्सी से रच्-मच्, रच्-मच् आवाज़ आई। मेरी तरफ़ ग़ौर से देखा, प्रसन्न मुस्कराहट के साथ उन्होंने प्रश्न किया- 'आप अइसा सवाल क्यों पूछ रहे हैं?'

मैंने फिर अपना राग छेड़ दिया कि संगीत का श्रोता मैं वर्षों से रहा हूँ। भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रति गहरा लगाव होने के बावजूद मेरा ज्ञान अल्प है। जितना थोड़ा-बहुत संगीत मैंने सीखा (सितार में 'मध्यमा' का डिप्लोमा मात्र), उतने में रागदारी संगीत की बारीकियाँ समझना सम्भव नहीं है। कभी-कभार राग को पहचान लेना, सम के आवर्तन का मज़ा ले लेना या अलाप के गाम्भीर्य को आत्मसात करना या सनसनाते शीतल पेय जैसी झाले की त्वरा का आनंद लेना अलग बात है, किंतु मैं संगीत के चरम आनंद तक पहुँचना चाहता हूँ।

दादा ने मेरी बातें ग़ौर से सुनीं, फिर पूछा- 'ए बतलाइए कि आप जब संगीत सुनते हैं, तो आपको आनंद आता है?'

मैंने कहा- 'बहुत आनंद आता है।'

'तो और क्या चाहते हैं आप? अगर आपने राग पहचान भी लिया, तो क्या फरक पड़ेगा?'

'पर दादा', मैंने टोका- 'जो लोग संगीत सीखे हुए हैं, वे उसकी बारीकियों को समझकर ज़्यादा मज़ा लेते होंगे।'

'ग़लत सोचते हैं आप। सीखा हुआ आदमी राग पहचान लेता है, किंतु राग का आनंद उठा पाएगा या नहीं- यह कहना मुश्किल है।' दादा मगन होकर हँसे। कुर्सी से फिर रच्-मच्, रच्-मच् आवाज़ आई। कुछ क्षणों के बाद दादा ने सवाल किया, 'ए बताइए कि अच्छी कविता का आनंद उठाने के लिए काव्यशास्त्र जानना ज़रूरी है क्या?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं।'

'बस, यही सूत्र संगीत पर लागू है। आख़िर संगीत क्या है? स्वरों का संयोजन है ना। बस, थोड़ा अभ्यास और थोड़ा संस्कार चाहिए। सुनने में अच्छा लगा और मन प्रफुल्लित हो गया। ताज़गी आ गई। एई तो संगीत की सार्थकता है। हम तो यही समझ सका है।'

इस तरह दादा ने मुझे एक कुंठा से मुक्त किया और मैं इसमें भी गर्व का अनुभव करने में सक्षम हुआ कि मैं संसार के श्रेष्ठतम संगीत का अच्छा श्रोता हूँ। भले ही संगीत के तकनीकी पहलुओं का ज्ञाता नहीं हूँ, पर उसे सुनने का अधिकारी संगीत के पंडितों से कम नहीं हूँ।

एक अरसे से मेरे मन में यह प्रश्न बार-बार उठता रहा है कि सैकड़ों वर्षों की अटूट परम्परा और साधनारत कलाकारों की प्रतिभा से पुनर्नवा भारतीय संगीत का तलदर्शी आनंद कैसा होता होगा? जो कुछ हमें मिलता है, वही शब्दातीत है, तो जो कुछ छूट रहा है यदि वह भी हस्तगत हो पाता, तो आनंद का रूप क्या होता! यह भी लगता कि क्या ब्रह्मांड की तरह ही संगीत के आनंद के किसी छोर की कल्पना दुष्कर नहीं है? दादा से बातें करके भक्तिकालीन कवियों की इस स्थापना को मैंने मन से स्वीकार कर लिया कि ज्ञानी का पद बहुत ऊँचा है, लेकिन प्रेमी होना कम गौरव की बात नहीं है।

पिछली सदी के सातवें-आठवें दशक तक भी इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में कितने ही प्रसिद्ध कलाकारों का आगमन होता था। घरानेदार कलाकार भी आमंत्रण मिलते ही यहाँ आ जाते थे और अपनी कला से विद्यार्थियों और रसिकों के मन-मस्तिष्क को आलोकित करते थे। मेरी स्मृति में ऐसे कई प्रसिद्ध कलाकारों के नाम हैं, जो यूजीसी एक्स्टेंशन लेक्चर सीरीज़ के अंतर्गत भी यहाँ ख़ुशी-ख़ुशी आए। उनमें से अधिकांश यहाँ के आत्मीय आतिथ्य से अभिभूत होकर वापस जाते थे। छोटे-से शहर में नागरिकों से मिला प्रेमपूर्ण व्यवहार, आसपास का ग्रामीण परिवेश, प्रकृति से निकटता उन्हें प्रभावित करती। उस समय खैरागढ़ आने वाले विभिन्न विधाओं के विद्वानों और कलाकारों से (उनमें विश्वनाथ त्रिपाठी, सोमदत्त, कमला प्रसाद, भगवत रावत, धनंजय वर्मा, नामवर सिंह, नागार्जुन, काशीनाथ, प्रयाग शुक्ल, राजेश जोशी जैसे साहित्यकार भी थे) मैंने यह सुना था कि कला संगीत विश्वविद्यालय में आना अपने आप में अनोखा अनुभव है।

मध्यप्रदेश सरकार (तब खैरागढ़ अविभाजित मध्यप्रदेश का हिस्सा था) की भरपूर उपेक्षा के बावजूद विश्वविद्यालय के अस्तित्व को देश के कलाकार सम्मान दे रहे थे। छत्तीसगढ़ राज्य का बनना तो दूर, उसके बनने की कल्पना भी फीकी और आधी-अधूरी सी थी। केवल कुछ संवेदनशील साहित्यकारों के प्रयासों में वह एक स्वप्न थी। कुछ वर्षों तक विश्वविद्यालय मध्यप्रदेश के संस्कृति विभाग के अंतर्गत कार्यरत रहा। ऐसा सम्भवतः संस्कृति विभाग का दायरा और वज़न बढ़ाने के लिए किया गया था। जहाँ तक विश्वविद्यालय का प्रश्न है, उसका तो वज़न घटा था, क्योंकि संस्कृति विभाग का सारा ध्यान भारत भवन को ऊँचाई देने में लगा था, जहाँ मध्ययुगीन कला-शिक्षा-पद्धति का नया अवतार गढ़ने का व्यक्तिवादी प्रयोग चल रहा था। बेशक, भारत भवन एक प्रसिद्ध सांस्कृतिक केंद्र के रूप में ख्यात हुआ, जो प्रशंसनीय है। कलाकारों की प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति में इजाफ़ा हुआ, किंतु कला-संस्कृति जनसामान्य, विद्यार्थियों, शोधार्थियों, कला शिक्षकों से दूर हटकर विशिष्ट जनों के बीच सिमटती चली गई। विभाग महान कलाकारों को गौरवान्वित कर रहा था, किंतु उनकी कला को देखने-सुनने और समझने के लिए लालायित जिज्ञासुओं की उपेक्षा कर रहा था। ज़ाहिर है कि जिज्ञासु केवल राजधानी में और प्रशासकों की विशिष्ट सूची में भर नहीं होते। विषम परिस्थितियों में, साधनहीन रहकर भी भारतीय संगीत की परम्परा को वहन करने वाली निरंतर

संकटग्रस्त होती संस्थाओं और उनमें काम करने वालों को संस्कृति विभाग के संस्कृति उद्धारक हेय दृष्टि से देख रहे थे। संस्थागत शिक्षण के विरोध का भूत उन्हें ग्रस रहा था, जबकि न केवल भारत भवन, बल्कि उनकी शाखाएँ भी संस्थाएँ ही थीं। यह विस्तृत खेती को नष्ट करके हाईब्रीड बीजों से उगाई जाने वाली बंध्या फ़सल वाले फॉर्महाउस के निर्माण जैसा शानदार प्रयास था। सार्थक कर्म और सार्थकता के भ्रम में अंतर नहीं किया गया। केंद्रीयता का दर्शन नए क़िस्म की दरबारी संस्कृति को जन्म देता है। दरबार का अर्थ ही कुलीन-नागर भद्रजनों का समूह है। सामान्य-जन से इतर, उच्चासन आसीन कुछ प्रतिभा-सम्पन्न तथा कुछ यशकामी मध्यम और सामान्य श्रेणी के चापलूस। संस्कृति विभाग एक मात्र महानता और क्षरणशीलता का केंद्र बना। यह सोचा ही नहीं गया कि अधिकार सम्पन्न अधिरचना जब दूसरों के हाथ में जाएगी, तब उसका कैसा-कैसा दुरुपयोग सम्भव होगा।

तारीख़ और सन् मुझे याद नहीं है, पर पुरानी बात है- सत्तर के दशक की। पंडित जसराज का खैरागढ़ आगमन हुआ। ऐसे ख्यातिप्राप्त कलाकार के आगमन के लिए बेहद उत्सुकता और उत्तेजना थी। परिसर में और नगर में भी। विश्वविद्यालय के भीतरी आँगन के मंच पर कार्यक्रम हुआ। कटाकट भीड़ थी। पंडित जसराज जैसे सुदर्शन हैं, वैसा ही उनका गायन है- गहन और मधुसिक्त। डेढ़-दो घंटे तक उनके गायन का श्रोताओं ने आनंद लिया। कार्यक्रम सम्पन्न हुआ और धन्यवाद-प्रकाश हो ही रहा था कि उन्होंने सबको चकित कर दिया। बीच में ही खड़े होकर उन्होंने माइक अपने हाथ में ले लिया और बोले- 'आज गाकर मुझे पूरा संतोष नहीं हुआ। कहीं और गाने में तथा इस विश्वविद्यालय के मंच पर गाने में फ़र्क़ है। मैं एक दिन और रुककर कल फिर गाना चाहता हूँ।'

अंधा क्या चाहे- दो आँखें। देर तक तालियाँ बजती रहीं। कुलपति ने मंच पर जाकर इस दिलदारी का आभार माना। मैं इतना ज्ञानी नहीं हूँ कि जान पाऊँ कि पंडित जसराज की कौन-सी प्यास अधूरी रह गई थी।

दूसरी शाम, अपेक्षाकृत एक छोटी सभा, यानी विश्वविद्यालय के दरबार हॉल में जसराज ने फिर गायन प्रस्तुत किया। बसंत रानाडे (जो उन दिनों वायलिन के प्राध्यापक थे और कला जगत में उनकी पहचान थी) से मुख़ातिब होकर जसराज बोले- 'अरे यार रानाडे, वहाँ कहाँ बैठे हो। मंच पर आओ वायलिन लेकर।'

उस महफ़िल की बात ही अलग थी। रानाडे ने वायलिन पर अद्‌भुत संगत प्रदान की। जसराज ने मस्ती से गाया। वहाँ उपस्थित श्रोतागण सही मानों में श्रोता थे- सुर के प्यासे। जिस संगीत सभा में कलाकार और सामाजिक एक साथ तृप्त हो सकें और उनके बीच की दूरी समाप्त हो जाए, वहाँ मुक्ति का आभास होता है। उस आनंद को कोई भी समीक्षा या रिपोर्ट शब्दों में नहीं बाँध सकती। संगीत और चित्रकला की रिपोर्टिंग तो वैसे भी सपाट और सतही शब्दजाल की तरह होती है।

जहाँ तक मुझे याद है, जसराज को बहुत कम ही भुगतान किया गया था। विश्वविद्यालय के नियमों को कुछ शिथिल करके फाइल का पेट भरते हुए संस्था की सामर्थ्य से कुछ अधिक। जसराज ने उसमें से सौ रुपए छात्रों को दे दिए।

उस समय के सौ रुपए!

सोचता हूँ कि क्या ऐसी घटनाएँ आज घटित हो सकती हैं? 'ऐसी' का मतलब ठीक ऐसी ही नहीं, बल्कि भावना और संवेदना के स्तर पर कुछ इस तरह की। यों अपने कला माध्यम पर जितना विश्वास और गर्व संगीतकारों को है, उतना शायद दूसरे माध्यम के रचनाकारों को नहीं है। वे आज भी विश्वास करना चाहते हैं कि किसी के गाने से पानी बरस सकता है या दीपक जल सकता है। साधना, आराधना, तपस्या, आत्मा, परमात्मा, मोक्ष जैसे शब्दों का प्रचलन भी उन्हीं के बीच अधिक है। दूसरी ओर, भौतिक आकर्षण और अनुबंधपटुता, मोल-भाव के तौर-तरीक़े भी दिखलाई देते हैं। जो कलाकार ऊँचाई पर पहुँच गया और बाज़ार में स्थापित हो गया, उसकी प्रतिबद्धता कला के आध्यात्मिक पहलू से बिल्कुल नहीं रह जाती, किंतु उसकी शब्दावली वही रहती है, जो आज से सौ वर्ष पहले थी। सभी के साथ ऐसा हो, यह ज़रूरी नहीं- पर कई सफल और नामचीन कलाकारों में यह कमज़ोरी सुस्पष्ट दिखलाई देती है। अब बहिरंग कलाकार का है, पर अंतर्मन व्यवसायी का है। इस स्थिति पर रोने का कोई अर्थ नहीं रह गया है, क्योंकि यह वक़्त की रफ़्तार है, जिसकी लगाम महाजनी सभ्यता के हाथों में है।

रचनात्मक प्रतिभा की एक त्रासदी यह है कि वह अपेक्षित प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि पा सकेगी या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता। कला की समीक्षा की बड़ी-बड़ी पोलें हैं। जब अभिव्यक्ति के सर्वाधिक स्पष्ट और प्रकाशित माध्यम साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा दुर्बल और एकांगी है, तो अन्य कला माध्यमों की तो बात ही छोड़िए। साहित्य में जब बेहद सीमित और प्रच्छन्न लक्ष्य प्रेरित अध्ययन तथा व्यक्तिगत पसंदगी-नापसंदगी के आधार पर (कई बार प्रायोजित भी) की गई नाम उछालू समीक्षा का बाज़ार फल-फूल रहा है, तो अन्य कला-समीक्षा ने क्या गुनाह किया है। ठीक है कि बिना प्रतिभा के प्रसिद्धि नहीं मिलती, किंतु प्रतिभाशालियों के भी वर्ग हैं। जिनके पास अपनी प्रसिद्धि को विस्तार देने के लिए साधन, चतुराई और नेटवर्क है, उसका नाम यश के आसमान पर तारे की तरह चमकने लगता है। आज के विज्ञापन आधारित व्यावसायिक समय में संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में रणनीति भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि किसी कलाकार पर (बेशक न्यूनतम प्रतिभा-सम्पन्न) अल्पज्ञ राजनेता की मेहरबानी के साथ ही किसी बड़े अधिकारी का वरदहस्त भी हो गया, तो उसकी क़ीमत लाखों तक पहुँच जाती है। चुके हुए कलाकारों को भी कई बार महत्वपूर्ण मंच मिलते हैं, जबकि कई गुणी कलाकार उपेक्षित रह जाते हैं। साहित्य में तो कबीर, निराला या मुक्तिबोध की कविता प्रतीक्षा कर लेती है और अपने अंदर विद्यमान अमृत के बल पर, कभी न कभी अपनी प्रभा से चकित कर देती है। पर ऐसा ही संगीत के क्षेत्र में भी होगा, यह कहना कठिन

है।

सितार वादक पंडित बलराम पाठक जैसे गुणी कलाकार यश का वैसा विस्तृत आकाश नहीं पा सके, जिसके वे निश्चित ही अधिकारी थे। यह भी है कि उनमें उस चतुराई का अभाव था, जिसकी आवश्यकता आज के युग में है। एक बार नाम होने पर तो नाम बिकता है- इस सूत्र को न समझने के कारण बलराम पाठक, निष्णात कलाकार होते हुए भी सीमित प्रसिद्धि पा सके। कुछ दिक़्क़त तो उनकी अल्प शिक्षा और दूरस्थ निवास करने के कारण हुई।

पंडित बलराम पाठक को इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ के वाद्य विभाग में रीडर के पद पर सन् 1972 में आमंत्रित किया गया था। उनके प्रथम दर्शन का चित्र मेरे मन पर अभी भी अंकित है। बंगाली नज़ाकत से धारण की गई शांतिपुरी धोती। कढ़ाई किया हुआ कुर्ता। मँझोला क़द, गौरवर्ण, कंधे तक लहराते हुए चिकने काले केश। चेहरे पर विनम्रता, ओंठों पर मुस्कान। मैंने उन्हें नमस्कार किया, तो दोनों हाथ जोड़कर, थोड़ा झुककर उन्होंने अभिवादन किया- 'जी... नमस्कार।' आवाज़ सुनकर मैं चौंक गया। तार सप्तक पर चढ़ी हुई पतली ज़नाना आवाज़।

घटना बाद की है, पर उसका सम्बंध पाठक जी की आवाज़ से है, इसलिए यहीं बयान कर दूँ। पाठक जी खाँटी बिहारी शैली में मुझे 'बाबू' के सम्बोधन से नवाज़ते थे। एक बार वे मेरे घर आए और उन्होंने बाहर से ही आवाज़ लगाई- वही तार सप्तक तक चढ़ी पतली आवाज़, बाबू...। उन दिनों मेरे साले साहब मेरे यहाँ आए हुए थे। उन्होंने बाहर देखे बिना, भीतर आकर कहा- 'कोई भद्र महिला आई है।'

बलराम पाठक जब शाम को कक्षा में जाते, तो उनके आसपास लोग जुट आते। यह उन दिनों की बात है, जब सितार वाद्य विभाग में ही नहीं, विदेशों में भी बेहद लोकप्रिय था। पश्चिमी जगत् भारतीय संगीत के माधुर्य और उसकी गहराई के प्रति आकर्षित था। वहाँ के संगीत प्रेमी आश्चर्यचकित थे कि सैकड़ों वर्षों के स्वर संयोजन पर आधारित रागदारी संगीत में कलाकार के व्यक्तित्व प्रक्षेपण की अपार सम्भावनाएँ भी हैं। बीटल सिंगर जॉर्ज हेरीसन ने पंडित रविशंकर से सितार सीखा था। यहूदी मेन्युहिन की वायलिन और रविशंकर के सितार की जुगलबंदी के रिकार्ड के बिना संगीत प्रेमियों का संग्रह अधूरा माना जाता था। तो, साज़ की लोकप्रियता और कलाकार की प्रसिद्धि के कारण बलराम पाठक सभी के आकर्षण का केंद्र बने हुए थे। फिर जिसने उनकी मींड़ का चमत्कार देखा-सुना हो, जिसमें स्वर-माधुर्य की अंतिम बूँद को भी वे निचोड़ लेते थे, वह उनकी कला पर मोहित कैसे नहीं होता। अद्भुत बारीकी! वे जब विद्यार्थियों को कुछ बतलाने के लिए साज़ उठाते, तो बाहर बरामदे में लोग एकत्रित हो जाते। शाम को कभी-कभार मैं भी उनके पास चला जाता। वे बड़े प्रेम से पास बैठा लेते। मुझे संगीत का अनुरागी जानकर ख़ुद कुछ बजाकर सुनाते। हर संगतकार की यह इच्छा होती कि पाठक जी के साथ बैठने का मौक़ा मिले।

बलराम पाठक को सुनने का असली वक़्त और स्थान तो था- रात को साढ़े नौ-दस बजे के

बाद उनके घर का वह गोल कमरा, जहाँ बैठकर वे रियाज़ करते थे। यों, घरानेदार कलाकार अमूमन रियाज़ के समय किसी को उपस्थित रहने की अनुमति नहीं देते। उनकी पत्नी भी जब वहाँ आतीं, तो कभी-कभी इस बात का विरोध करतीं, पर पाठक जी कुछ भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे- सीधे सरल। उन दिनों मैं विश्वविद्यालय परिसर में नहीं, बल्कि लाल चंद्रकुमार सिंह के घर में रहता था।

मेरे घर के सामने वाली सड़क के उस पार रहते थे ठाकुर महेंद्र प्रताप सिंह, जो नृत्य विभाग में तबले के संगतकार थे। वे रायगढ़ ज़िले के ग्राम किकिरदा के निवासी थे। तबला और मृदंग बजाते थे। मालगुज़ार घर के थे, पर संगीत का शौक़ उन्हें नौकरी से बाँधे हुआ था। यदि वे अपने इलाक़े में ही रहते, तो अपने प्रभाव के दम पर मज़े से किसी पार्टी के नेता हो सकते थे। उनके पास राजा चक्रधर सिंह की कई बंदिशें थीं, जो नृत्य की जानकारी के लिए काम्य रचनाएँ मानी जाती हैं।

कभी छत्तीसगढ़ की रायगढ़ रियासत के राजा चक्रधर सिंह का दरबार संगीत और नृत्य का प्रसिद्ध केंद्र था। देश के नामी-गिरामी कलाकार वहाँ आते और अपनी कला का प्रदर्शन करते। रायगढ़ दरबार के नर्तकद्वय कल्याण-कार्तिक की जोड़ी का ख़ासा नाम था। राजा स्वयं अवनद्य वाद्य के मंजे कलाकार थे। उससे भी कहीं अधिक कुशल नृत्य की बंदिशों के रचयिता थे। मैंने जानकारों से सुना है कि किसी और से लिखवाकर अपने नाम का ठप्पा लगा लेने वाले कई राजाओं से वे भिन्न थे। उनकी रचनाओं में अपने क़िस्म की कल्पनाशक्ति है। केवल देह संचालन और गणित का कमाल भर उनमें नहीं है। उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना भी की। उनके वारिसों की नासमझी से वे ग्रंथ सामने नहीं आए। राजा साहब की कुछ बंदिशें लोगों के पास हैं। उनमें से कुछ तो अगम्भीर कलाकारों के पास केवल अपना मान बढ़ाने का साधन बनकर रह गईं। ठाकुर साहब के पास भी राजा साहब की कई बंदिशें थीं, जिन्हें वे खुले मन से विद्यार्थियों और शोधार्थियों को देते थे। वे जानकारों से चर्चा करते कि उन बंदिशों के पीछे कल्पना क्या रही होगी।

वे ग़ज़ब के मिमिक थे, इसलिए जहाँ बैठते, वहाँ दरबार-सा लग जाता। खुराकी आदमी थे। खाने के ही नहीं, खिलाने के भी शौक़ीन। उनकी एक दिलचस्प आदत थी, जो किसी और में मैंने नहीं देखी। उन्हें रात दस-साढ़े दस बजे के आसपास भजिया खाने का शौक़ था। ठंड के दिनों में तो उनकी यह रसज्ञता चरम सीमा पर होती। उनका भोजन तो आठ-साढ़े आठ बजे निपट चुका होता। यह शयन पूर्व का भोग होता। भजिया भी बनती थाली भर।

अक्सर रात दस बजे के क़रीब उनका कोई लड़का नरेश या गुड्डू आता और कहता- 'फूफा चलो। कका भजिया खाए बर बुलात हे।'

मैं जाकर देखता कि ठाकुर साहब बेसब्री से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। घर में भजिया की सोंधी मनभावन सुगंध भरी है। निकटस्थ पड़ोसी भी उपस्थित है। ठाकुर साहब अक्सर कहते- 'हड़का के भजिया खाकर और लोटा भर पानी गड़गड़ाकर पीने के बाद नींद लेने का मज़ा ही कुछ और है।'

इस तरह की बदपरहेजी का आदी न होते हुए भी उनका प्रेम भरा आग्रह स्वीकार करके

भजिया खानी पड़ती। गरम भजिया तो वह उर्वशी है, जो किसी भी साधनारत विश्वामित्र की तपस्या को डिगा सकती है और निराला जैसे महान कवि को अपने पर कविता लिखने की प्रेरणा दे सकती है। मैं किस खेत की मूली हूँ भला। दुष्परिणाम की चिंता को दरकिनार कर भजिया खाता और ठाकुर साहब के साथ एक बीड़ी पीकर ही घर वापस आता।

बात कहाँ से कहाँ पहुँच गई। हरि अनंत हरि कथा अनंता। यों चर्चा के केंद्र में ही सत्संग के अनुभव हैं और ठाकुर साहब की चर्चा किए बग़ैर बलराम पाठक की वार्ता अधूरी रह जाती, क्योंकि वे ही उन तक पहुँचने के मेरे माध्यम बने थे। ठाकुर साहब स्वयं तो गुणी व्यक्ति थे, पर उससे भी बढ़कर वे गुणीजनों के भक्त थे। बिना किसी स्वार्थ भाव से कलाकारों की सेवा करने में उन्हें आनंद आता था। कभी गुदई महाराज, यानी पंडित सामताप्रसाद की सेवा कर चुके थे। बतलाया करते थे कि प्रसिद्ध पखावज वादक पागलदास भी उनके गाँव आकर उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके थे। बलराम पाठक बहुत दिनों तक खैरागढ़ में अकेले ही रहे। ठाकुर साहब के श्रद्धाभाव ने उनका मन मोह लिया था। ठाकुर साहब प्रायः रात को साढ़े नौ बजे के आसपास उनके घर जाते थे। वे पाठक जी को छोटे-मोटे कामों में मदद करते। कभी-कभी उन्हें अपने हाथ की बनी मछली खिलाते। यदि पाठक जी चाहते, तो रियाज़ में उनके साथ संगत के लिए भी बैठते। मैं भी कभी-कभार ठाकुर साहब के साथ हो लेता। जब पाठक जी के यहाँ पहुँचते, तो वे घर में खुटुर-पुटुर करते होते। हमारे पहुँचने पर बहुत ख़ुश होते और जल्दी ही सितार लेकर बैठ जाते। फिर तो समय हमारा होता। ऐसे उदारमना कलाकार कम होते हैं।

एक अद्‌भुत दृश्य मुझे भूलता नहीं है। ठंड के दिन थे। रात लगभग साढ़े नौ बजे ठाकुर साहब और मैं पाठक जी के यहाँ चले। तब खैरागढ़ अपेक्षाकृत छोटा, शांत और स्वच्छ क़स्बा था। ठंड की रात के नौ बजे के बाद बहुत कम लोग ही मिलते। पाठक जी के यहाँ हम पहुँचे, तो उनकी बैठक के किवाड़ उढ़के हुए थे। हमने हल्के हाथ से किवाड़ों पर दस्तक दी, तो पाठक जी की आवाज़ आई- ‘आ जाइए। ठाकुर साहब हैं क्या?’

हम कमरे में घुसे, तो देखा कि पाठक जी अपनी गद्दी पर विराज चुके हैं और साज़ के परदे जमा रहे हैं। उनके सामने बैठे हुए थे तीन किशोर! शक्ल और अपनी धज से वे ग़रीब घरों के बच्चे लगे- गाय-बकरी चराने वाले बच्चों जैसे। बहुत साधारण कपड़े पहने उन लड़कों की शक्ल से लग रहा था कि वे स्कूल के विद्यार्थी भी नहीं थे। तीनों एकाग्रचित्त होकर पाठक जी को देख रहे थे। सितार मिलाते-मिलाते ही पाठक जी ने मुस्कराकर हमारा अभिवादन स्वीकार किया। स्वागत में कहा- आइए और इशारे से बग़ल में बैठने के लिए कहा।

उस समय पाठक जी का सहज रूप से कोमल चेहरा और मासूम लग रहा था- किसी बच्चे की तरह। उनके गोरे चेहरे पर एक कुंचित मेचक लट झूल रही थी, जिसे वे बीच-बीच में सिर को हल्के से झटककर हटाने की कोशिश करते थे। मैं कभी उनकी तरफ़ देखता और कभी सामने बैठे

अद्‌भुत बाल श्रोताओं को। पाठक जी ने मेरे चेहरे के भावों को समझकर कहा- 'ये हमारे ख़ास श्रोता हैं बाबू।'

मैंने हँसकर पूछा- 'कहाँ से मिले आपको?'

पाठक जी भी हँसे- 'ये तो हमको घर बैठे मिल गए बाबू। ये जब भी इधर से निकलते हैं, हमारा बाजा सुनने आ जाते हैं।'

दरअसल, वे बच्चे लगभग उसी समय पाठक जी के घर के बग़ल से अक्सर गुज़रते थे। यदि पाठक जी सितार बजाते होते, तो वे जिज्ञासावश बरामदे तक आ जाते और वादन सुनते। कभी-कभार कमरे में झाँकने की कोशिश भी करते। एक दिन पाठक जी ने उन्हें कमरे के अंदर बुला लिया। वे डरते-झिझकते भीतर आए, तो पाठक जी ने उन्हें बैठने के लिए कहा था। वे सामने थोड़ा हटकर फ़र्श पर बैठ गए और इस तरह वे उनके ख़ास श्रोता बने। संगीत के ऐसे प्रेमी तो सुर के जादू में बँधकर उनके पास आ गए थे। वे पुरानी कहानियों में वर्णित उन मृगों के अवतार थे, जो राग-रागिनियों को सुनकर, सुध-बुध भूलकर कलाकार तक खिंचे चले आते थे।

आज तो कलाकारों की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यह है (यदि वे मानें तो) कि सबसे पहली पंक्ति में बैठकर उनका संगीत सुनने वाले ज़्यादातर ऐसे मट्‌ठर लोग होते हैं, जो प्रथम पंक्ति में बैठने के हक़दार किन्हीं अन्य कारणों से होते हैं।

...पाठक जी ने सितार के परदे जमाकर कहा- 'पहले इनको थोड़ा सुना देते हैं।'

पाठक जी चेहरे पर एक स्निग्ध मुस्कान लिए एक धुन बजाने लगे। ग़ौर से सुनने पर ध्यान आया कि बचपन में शाम ढलने पर, हम भाई-बहन जो प्रार्थनागीत गाते थे उसकी धुन यही थी, सीधी-सरल लेकिन मिठास भरी। 'भगवान प्रणाम तुम्हें करते हम छोटे-छोटे बालक हैं'- यह प्रार्थना उस समय बहुत प्रसिद्ध थी। भीमपलासी के स्वरों में निबद्ध ऋजु-मनोहारी धुन आसान और लुभावनी थी। इन्हीं सुरों में ढालकर अम्मा एक भजन गाती थीं- बजरंग बली मेरी नाव चली जरा बल्ली कृपा की लगा देना।

बलराम पाठक की अँगुलियों के जादू ने उसमें स्वरों का भराव करके उसे और भी दिलक़श बना दिया था। उसे सुनते हुए उन बच्चों के चेहरों पर खिलते आनंद को देखकर मुझे लगा कि सचमुच वे विशिष्ट श्रोता थे और बेशक वह एक महत्वपूर्ण संगीत सभा थी। अंतर्मन तक सुरों में भीगकर मुक्ति पाने वाला वैसा श्रोता तो शायद मैं नहीं था, जैसे पाठक जी के सामने बैठे श्रोता थे। हाँ, मेरे लिए वह सभा कुछ अविस्मरणीय कला अनुष्ठानों में एक थी।

पता नहीं वे अद्‌भुत संगीत रसिक आज कहाँ होंगे। हो सकता है कि कोई रिक्शा चला रहा हो और कोई वेल्डिंग का काम कर रहा हो, पर मुझे लगता है कि वह धुन अभी भी उनके साथ होगी तथा थकान के क्षणों में उन्हें सुकून देती होगी।

उस दिन पाठक जी तुष्ट भाव से देर तक सितार बजाते रहे। ठाकुर साहब ने संगत की। जब हम लौटे, तो रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। निस्तब्धता का साम्राज्य था। सुनसान सड़क पर हम अपने पदचाप सुने सकते थे। रात के उस सन्नाटे में मुझे लग रहा था कि दसों दिशाओं से वीणा से निसृत गम्भीर अलाप उतर रहा है। मुझे रवींद्रनाथ का गीत याद आ गया- बाजिलो काहार बीना मधुर सुरे।

मेरे साथ भी वह संगीत अभी तक है।

'प्रगतिशील वसुधा' से साभार। लेखक राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार हैं। सम्पर्क- 09977137809

गुणी गुरुओं के सान्निध्य में

***डॉ. मांडवी सिंह** बता रही हैं कि किन गुरुओं की प्रेरणा और मार्गदर्शन से शिखर तक की उनकी राह सरल हुई और किन बातों ने उन्हें सम्बल दिया*

मेरा सौभाग्य है कि खैरागढ़ मेरी जन्मभूमि और कर्मभूमि दोनों है। जन्म के लगभग एक वर्ष बाद मैं कवर्धा गई और कक्षा दूसरी तक की मेरी पढ़ाई वहीं हुई। कक्षा तीसरी से मैं खैरागढ़ आ गई और यहीं शासकीय प्राथमिक कन्या शाला से मेरी आरम्भिक शिक्षा सम्पन्न हुई। इस दौरान स्कूली सहेलियों के सम्बंध में तो स्मरण नहीं आता, किंतु सौभाग्यवश प्रारम्भ से ही मुझे सारे शिक्षक अच्छे मिले और उनका विशेष स्नेह भी मिलता रहा।

प्राथमिक शिक्षा के दौरान मैं स्व. घनानंद गुरुजी से ट्यूशन पढ़ती थी। वे बहुत ही कठोर और कर्मठ शिक्षक थे। आज की तिथि में ऐसे गुरु मुझे कम दिखाई देते हैं। वे तो पूर्ण अधिकार के साथ अनुपस्थित विद्यार्थियों को घर से बुलाकर डांट-डपटकर, पूर्ण ज़िम्मेदारी के साथ पढ़ाया करते थे। मोहल्ले के हम आठ-दस लोग एक साथ मेरे पड़ोस में रहने वाली सहेली वंदिता सिंह (लाली) के घर पर पढ़ते थे। लाली के साथ मैं शिक्षा पूर्ण होने तक रही और हम दोनों के बीच एक विश्वास हमेशा बना रहा। घनानंद जी समय के इतने पाबंद थे कि निर्धारित समय में इतवारी बाज़ार की ओर से राजफेमली में पानी टंकी के पास पहुँच जाते थे। साल में दो-तीन बार ही उन्हें विलम्ब हुआ होगा। ऐसे दुर्लभ दिनों में हम सब सड़क में जाकर झाँक-झाँककर उन्हें देखते थे कि शायद न आएँ। किंतु किंचित विलम्ब के बावजूद वे आते अवश्य थे और उतनी ही लगन से पढ़ाते थे। अपनी शिक्षा का ठोस आधार मुझे उनसे ही मिला।

खैरागढ़ के जिस शासकीय कन्या शाला से मेरी माध्यमिक शिक्षा भी सम्पन्न हुई, वहाँ मित्रों से ज़्यादा अच्छी यादें गुरुजनों को ही लेकर हैं। इस दौरान स्कूल की प्राचार्य थीं, सुश्री प्रमिला बिठालकर। बहुत ही अनुशासनप्रिय एवं अच्छी शिक्षाविद्। कक्षा छठी या सातवीं में मुझे भाषण

प्रतियोगिता में नांदगाँव, रायपुर और भोपाल जाना पड़ा और भोपाल में मेरी जीत हुई। पुरस्कार स्वरूप बाल कहानियों की आठ-दस पुस्तकें और एक शील्ड मिली। उन पुस्तकों को न जाने कितने बार कितने सालों तक मैंने बार-बार पढ़ा है। मैडम बिठालकर बहुत ख़ुश हुईं और मुझे बहुत स्नेह दिया। उनसे जुड़ी एक घटना है, जिसका स्मरण करते हुए मैं रोमांचित और भावुक हो जाती हूँ। सन् 1975-76 के बाद सन् 2013 में लगभग 40 साल बाद उनसे मेरी मुलाक़ात रायपुर में हुई। उनकी उम्र 90 वर्ष से ज़्यादा है। मुझे एक महाविद्यालय में किसी कार्यक्रम में आमंत्रित किया गया था। मैडम बिठालकर भी आमंत्रित थीं। उस दिन मेरे लिए दो साड़ियों का पूरा सेट और एक शॉल लेकर आई थीं। कार्यक्रम के दौरान उनसे भेंट न हो सकी, किंतु वापसी में खैरागढ़ जाने के लिए मैं कार में बैठ रही थी कि किसी ने आकर भोजन के लिए आग्रह किया। जब मैं उस जगह पहुँची, तो देखा कि मैडम पूरे सामान के साथ असमंजस की स्थिति में थीं। मेरे वहाँ पहुँचते ही वे सामने आ गईं और बहुत अधिकार से कहने लगीं, 'मैं तुमसे ही मिलने आई थी।' उन्होंने मुझे एक कुर्सी पर बैठने को कहा और पूरे विधि-विधान से टीका लगाकर साड़ियाँ और शॉल मेरे हाथों में दी। वह मेरे जीवन का सबसे बड़ा सम्मान था। आज भी उस दिन को याद करती हूँ, तो मेरी आँखें तर हो जाती हैं।

माध्यमिक शाला में मैडम अनुज झा का सान्निध्य मिला, जो गणित बहुत आसान शैली में पढ़ाती थीं। उनसे मेरा सम्पर्क अब तक है। हम जब मिलते हैं, यही महसूस होता है कि मैं उनकी वही स्कूली छात्रा हूँ और वे शिक्षिका। हालाँकि अब चर्चा का विषय पढ़ाई-लिखाई न होकर जीवन के अन्य प्रसंग होते हैं। उनके साथ ही श्रीमती मंसूरी सिंह, श्रीमती सरकार, श्रीमती उर्मिला मिश्रा, सुश्री दशेश्वरी सिंह, सुश्री कटीला सिंह, श्रीमती मिथिलेश झा, श्रीमती प्रेमलता लाल आदि शिक्षिकाएँ आदर्श के रूप में हमेशा मेरे मानस पटल पर अंकित रहेंगी।

कृष्णकांत बख्शी जी स्कूल में भौतिक शास्त्र के शिक्षक थे। लगभग डेढ़ वर्ष उनसे शिक्षा प्राप्त हुई। अच्छे एवं योग्य शिक्षकों में उनका नाम था। विगत कुछ वर्षों से मैं उनके सम्पर्क में हूँ। गुरु होने के साथ-साथ वे मेरे बहुत बड़े शुभचिंतक हैं। आज मैं जो भी हूँ, उनका स्नेह और आशीर्वाद मेरे साथ है।

स्कूल के दिनों से ही कला और साहित्यिक विषयों की ओर मेरा झुकाव स्पष्ट हो गया था, सो हाईस्कूल में विज्ञान विषय का चयन एक तरह से ग़लत ही था। हालाँकि शुरुआत से ही एक अदृश्य शक्ति मेरा मार्गदर्शन करती रही। उसी अदृश्य प्रेरणा से मैं स्नातक हेतु कलागत विषय से सीधे जुड़ गई। हाईस्कूल की मेरी शिक्षिका स्व. श्रीमती प्रेमलता लाल मेरे हाथ की अँगुलियाँ देखकर कहती भी थीं कि तुम्हें कला के क्षेत्र में ही जाना चाहिए।

कक्षा सातवीं से मैंने इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में कथक नृत्य के डिप्लोमा पाठ्यक्रम में प्रवेश ले लिया था। कथक की प्रारम्भिक शिक्षा पं. कल्याण दास महंत जी से मिली। विद् तक छह वर्ष का प्रशिक्षण उन्हीं के मार्गदर्शन में पूर्ण हुआ। कक्षा में हमेशा मेरा प्रथम स्थान होता था। गुरुजी बहुत ही स्नेह के साथ प्रशिक्षण देते थे। नृत्य के क्षेत्र में बुनियाद उन्होंने निर्मित की, किंतु

फिर भी मुझमें नृत्य के विषय में स्पष्ट समझ जाग्रत न हो पाई थी- नियमित रूप से कक्षा आने, सीखने और अच्छे परिणामों के बावजूद। बी.ए. के दौरान मैंने मुख्य विषय कथक नृत्य लिया, क्योंकि इसी विषय में छह वर्ष का डिप्लोमा था ही। मेरे पास नृत्य का अनुभव था और अन्य विषय भी मेरी रुचि के थे। यहाँ से मेरी प्रगति के रास्ते एक-एक कर खुलते गए। बी.ए. अंतिम वर्ष से कथक नृत्य की शिक्षा गुरु प्रो. पी.डी.आशीर्वादम् से मिलने लगी। एक अच्छे शिक्षक के रूप में उनसे मेरा पहले से परिचय था। वे अँग्रेज़ी के व्याख्याता थे और बी.ए. प्रथम व द्वितीय वर्ष में उन्होंने यही विषय पढ़ाया था। उनमें कथक नृत्य को जानने-समझने के साथ सिखाने की असीम उत्कंठा थी। सन् 1983 में वे कथक नृत्य के विभागाध्यक्ष हुए। उन्होंने विभाग तथा विद्यार्थियों को अनुकूल वातावरण, व्यवस्था तथा नई दिशा दी। उनके विद्यार्थियों को उनके विशेष निर्देशों का पालन करते हुए शिक्षा ग्रहण करनी होती थी, जहाँ कठोर अभ्यास, अनुशासन और लक्ष्य केंद्रिकता के अलावा अन्य किसी बात का कोई स्थान नहीं था।

डॉ. आशीर्वादम् के मार्गदर्शन से मैंने एम.ए. एवं कोविद की शिक्षा पूर्ण की। बहुत ही कठिन था कि परिवार के विरोधी वातावरण में मैं आगे की पढ़ाई इस विषय को लेकर जारी रखूँ। इस बीच मैं नौकरी की तलाश करने लगी। किंतु गुरुजी मुझे शोध (पी.एच.डी.) के लिए लगातार प्रेरित करते रहे। तब पी.एच.डी. का पंजीयन शुल्क ढाई सौ रुपए होता था। मैंने अपनी दादी श्रीमती सोना सिंह जो कि गाँव देवरी में रहती थीं, को चुपके से एक चिट्ठी लिखी कि मुझे ढाई सौ रुपयों की ज़रूरत है। उन्होनें एक नौकर के हाथ मेरे लिए रुपए भिजवाए, जिससे मेरा पंजीयन हो सका। यही नहीं, वे मुझे हमेशा प्रोत्साहित करती थीं। ऐसे बुज़ुर्ग परिवार के बच्चों के लिए हमेशा प्रेरणादायी होते हैं।

बड़ी हस्ती या बड़ा कलाकार बनने की तमन्ना न कभी मेरे मन में थी, न अभी है। केवल काम के प्रति ईमानदारी और कठोर परिश्रम करने की जो सीख मेरे गुरु ने दी, वही मेरे जीवन का मूलमंत्र है। एक बार उन्होंने कहा कि आचार्य नंदिकेश्वर लिखित 'अभिनय दर्पण' ग्रंथ के 310 श्लोक तुम्हें याद करने हैं। प्रतिदिन दस श्लोक याद करना सुनिश्चित किया गया था और केवल उनका आदेश समझकर मैंने उस ग्रंथ के सारे श्लोक कंठस्थ कर लिए। यह मेरे ज्ञान तथा नृत्य के लिए बहुत उपयोगी रहा। उनकी प्रेरणा ऐसी थी कि यदि वे कहते कि इसका अभ्यास सौ बार करना, तो वे सामने होते या न होते, अभ्यासों की आवृत्ति सौ ही होती थी। सौ के कभी 99 भी नहीं होते थे।

मेरी नृत्य शिक्षा और पारिवारिक पृष्ठभूमि की बात करूँ, तो बचपन में मेरा नृत्य करना उन्हें अच्छा लगता था, किंतु उम्र बढ़ने के साथ इस विषय की बढ़ती चुनौतियों के बरअक्स वह सहयोग न मिल पाया, जिसकी उस दौरान मुझे बहुत आवश्यकता थी। इस प्रकार जबसे समझ विकसित हुई, जीवन, परिवार और शिक्षा को लेकर एक तनाव या ऊहापोह की स्थिति हमेशा मस्तिष्क में रही। किंतु जब स्थितियाँ बदलीं, आत्मविश्वास बढ़ा, आत्मनिर्भरता बढ़ी, तो हालात भी परिवर्तित होते गए। ईश्वर की कृपा से परिवार से मेरा निरंतर जुड़ाव बना हुआ है। परिवार के लिए जो मेरी ज़िम्मेदारी

बनती है, बख़ूबी निभाने की कोशिश रहती है। मेरे गुरु ने परिवार के प्रति कर्तव्यों का निर्वहन करने की सीख भी दी थी। वे कहते थे कि जो व्यक्ति अपनों का नहीं कर सकता, वह दूसरों के प्रति कभी भी ईमानदार नहीं हो सकता। यह अब मेरे जीवन का भी अनुभव है। मेरी ख़ुशक़िस्मती है कि माता-पिता के अच्छे संस्कार मुझे मिले और अनावश्यक बाहरी प्रभाव मुझ पर कम ही रहा। बचपन से अब तक घरेलू या सामाजिक क्रियाकलापों की ओर मेरा रुझान कम ही रहा है।

मेरा कुलपति बनने का श्रेय नगर के वरिष्ठ समाजसेवी सिद्धार्थ सिंह को जाता है। उनकी प्रेरणा से ही यह सम्भव हो पाया। जहाँ तक माता या पिता के क़रीब रहने की बात है, माता-पिता का रिश्ता ही मानव जीवन में सबसे सच्चा होता है। हालाँकि निकटता या खुलेपन की बात करूँ, तो जीवन के प्राथमिक पड़ाव में यह बहुत कम था, किंतु आज काफ़ी निकटता है। लगता है, हम तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

उपलब्धियों के मायने में मेरा भाग्य बुलंद रहा। मात्र 21 वर्ष की उम्र में मुझे विश्वविद्यालय में व्याख्याता पद पर नियुक्ति मिली। उसके बाद मैं सन् 1998 में रीडर बनी, 2000 में प्रोफ़ेसर और सन् 2011 में इसी विश्वविद्यालय में कुलपति बनने का गौरव मिला। ये तमाम उपलब्धियाँ कभी मेरा उद्देश्य नहीं थीं। इस राह में कुछ लोग अवरोध भी बने, किंतु जैसा कि मैंने हमेशा अनुभव किया, कोई अदृश्य शक्ति मुझे बहुत आसानी से इन अवरोधों से मुक्त कराते हुए आगे का रास्ता आसान करती गई।

खैरागढ़ शहर मेरे लिए पूजनीय है। मैं आज जो कुछ भी हूँ, इसी शहर से हासिल किया है। मेरे लिए यहाँ का वातावरण हमेशा सहयोग और सद्भावना से परिपूर्ण रहा है। भविष्य में मुझे कुछ और अच्छा करने का मौक़ा मिले, तो ईश्वर करे कि वह जगह यही शहर हो।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह एवं रानी पद्मावती देवी द्वारा समर्पित खैरागढ़ शहर की अमूल्य निधि है। नगरवासियों और विश्वविद्यालय के बीच अटूट सामंजस्य की आवश्यकता है। शहर का विकास और विश्वविद्यालय का विकास एक-दूसरे के पूरक हैं, यह जानना और समझना हम सबके लिए अति आवश्यक है। जब तक अच्छा समन्वय बना रहेगा, विश्वविद्यालय विकास की चरम ऊँचाइयों को छू सकेगा, जिसका लाभ प्रत्यक्ष रूप से खैरागढ़ शहर को भी मिलेगा।

मैं यही कहना चाहूँगी कि कर्तव्य के प्रति ईमानदारी और कर्म के प्रति समर्पण आपको सफलता के निश्चित मुकाम पर अवश्य पहुँचाता है।

लेखिका जानी-मानी कथक नृत्यांगना और इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय की कुलपति हैं।
सम्पर्क- 07820-234534 (कार्यालय)

सदियों का है यह सम्बंध

*खैरागढ़ से अपने गहरे जुड़ाव के बारे में बता रहे हैं **देवव्रत सिंह,** जो उन्हें इस मिट्टी के बारे में सतत जागरूक और प्रेरित रखता है*

खैरागढ़ से अपने जुड़ाव के बारे में सोचता हूँ, तो यह एक उम्र तक सीमित नहीं लगता। यह सदियों का नाता है। लगभग आधी सहस्राब्दी का। यह सम्बंध ख़ून में समाहित है, जो 22-23 पीढ़ी से निरंतर हमारी रगों में बह रहा है। बचपन में जब मैं विश्वविद्यालय के दरबार हॉल में लगी अपने पूर्वजों की तस्वीरें देखता था, तो गर्व महसूस होता था। इस सुदीर्घ सम्बंध, यहाँ मिले स्नेह, सम्मान और सहयोग ने इस ज़मीन से जुड़ाव को गहरा ही किया है।

मैं भी बाक़ी खैरागढ़ियों जैसा ही हूँ। मेरे जीवन में भी तमाम खट्टे-मीठे पल आए हैं, मैंने भी हालात का सामना किया है, सीखा है। बचपन में मैं धीर-गम्भीर क़िस्म का था, लेकिन थोड़ी शरारतें भी कर लेता था। अपने निवास, कमल विलास पैलेस के बैठक कक्ष में रखे शेर के बारे में मैंने हमउम्र बच्चों के बीच अफ़वाह उड़ा रखी थी कि वह ज़िंदा हो जाता है और काट भी लेता है। उन दिनों मैंने घर पर कुछ फिल्मों की शूटिंग भी देखी है। बहरहाल, कुछ तो मेरा स्वभाव ही था और कुछ दादाजी की अनुशासनप्रियता कि मुझे शरारतों के ज़्यादा मौक़े नहीं मिल पाते थे। इसलिए बड़ों से मार खाने की नौबत कम ही आई। हाँ, एक बार की बात है, तब मेरी वय पाँच-छह साल की रही होगी। दीदी से झगड़ा हुआ, तो मैंने उनके एक कान की बाली खींच दी। उनके कान से ख़ून बहने लगा। तब पापा ने मेरी पिटाई की थी।

घर में दादाजी रिज़र्व और कड़ाईपसंद थे। उनसे मैंने अनुशासन के महत्व को आत्मसात किया। दादी से ख़ूब प्यार-दुलार मिलता था। वे खाना अपने सामने ही खिलाती थीं। कहानियाँ भी सुनातीं और सीख भी देतीं। घर पर ही मैंने अपनी गौरवमय वंश परम्परा के बारे में जाना। हमारा परिवार नागवंशी है। माना जाता है कि महाभारतकालीन अर्जुन की पत्नी, नागकन्या उलूपी हमारी

पूर्वज थीं। किंवदंतियाँ हैं कि उनका निवास कामाख्या (असम) में था। नागवंशी होने के कारण नाग हमारे लिए विशेष पूजनीय हैं। इसीलिए, जब बचपन में मैंने एक बार खेल-खेल में एक साँप को मार दिया था, तो दादाजी बड़े नाराज़ हुए थे। जहाँ तक मुझे याद आता है, वह नागपंचमी का दिन था। तब दादाजी ने चांदी का नाग बनवाकर मेरे हाथों से अर्पित करवाया था।

छुटपन में हम मंदिर जाते और कभी-कभी जंगल भी जाते थे। तब शिकार पर प्रतिबंध लग चुका था, इसलिए हम सिर्फ़ भ्रमण करते, वहाँ की हरियाली और जीव-जंतुओं को निर्बाध विचरण करते देखते। यह सन् 74-75 की बात होगी। हम बाज़ार और मेले में भी जाते थे। कभी-कभी गाँवों में जाने का मौक़ा भी मिलता था। इस तरह काफ़ी कम उम्र से ही मैं क्षेत्र से परिचित होने लगा था। उस दौरान सुदेश सिंह, विकास नारायण सिंह, लक्ष्मी नारायण खंडे, सारंगदेव सिंह, सुजीत चौहान जैसे हमजोली हुआ करते थे। हम साथ घूमते, दौड़-भाग करते, क्रिकेट खेलते और विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में जाकर किताबें भी पढ़ते थे। मेरा जब कभी शहर में जाना होता, मैं लोगों की मिलनसारिता को महसूस करता था। तब पानठेलों में भी वैचारिक बहस और चर्चाएँ होती थीं। हालाँकि अब लगता है कि ऐसे बौद्धिक विमर्श में कमी आ गई है।

चूंकि मेरी पढ़ाई-लिखाई भोपाल में हुई, इसलिए छुट्टियों में ही खैरागढ़ आना हो पाता था। फिर भी यहाँ से जुड़ाव लगातार बना हुआ था। किशोरावस्था से ही मैं इस मिट्टी के लिए कुछ नया करने की सोचने लगा था। 11वीं-12वीं की छुट्टियों में हमने यहाँ टेनिस बॉल क्रिकेट टूर्नामेंट कराया था। फिर 93-94 में फ्लड लाइट टूर्नामेंट कराया। तब छत्तीसगढ़ में रायपुर के बाद खैरागढ़ दूसरा शहर था, जहाँ इस तरह का रात्रिकालीन टूर्नामेंट हुआ था। मेरी क्रिकेट में काफ़ी रुचि है, सो मैं बतौर खिलाड़ी भी शामिल होता था। हम जमकर अभ्यास भी करते। मैं विधायक का पुत्र था, इसलिए शुरू-शुरू में साथी खिलाड़ी थोड़ा झिझकते और दूर रहते थे। फिर हमारे बीच अच्छा जुड़ाव बना और हम अच्छे दोस्तों की तरह हो गए। हमारी टीम के बीच बढ़िया तालमेल था। भोपाल जैसे शहर में क्रिकेट से सम्बंधित जो बारीकियाँ मैंने सीखी थीं, उनके बारे में साथियों को बताता था। तब सुजीत, लक्ष्मी के अलावा विभाष सिंह भी जुड़ गए थे।

समय अपनी गति से चल रहा था कि मम्मी की बीमारी के बारे में पता चला। उस कठिन दौर में सर्वश्री रत्नेश सिंह, लक्ष्मण बहादुर, सिद्धार्थ सिंह, कोमल चावड़ा, लक्ष्मीनारायण सिंह, जुग्गू भैया आदि से जो सम्बल मिला, वह भुलाया नहीं जा सकता। मम्मी के आकस्मिक निधन के बाद खैरागढ़ के लोगों ने मेरे और मेरे परिवार के प्रति लगाव जताया, अपार समर्थन दिया, उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। तब मुझे अचानक राजनीति में आना पड़ा था। उम्र कम थी, सक्रिय राजनीति का अनुभव भी कम था। ऐसे में मोतीलाल जंघेल, सिद्धार्थ सिंह और लक्ष्मण बहादुर सिंह जैसे वरिष्ठों ने मार्गदर्शन दिया। उन्होंने मंत्र दिया कि जनप्रतिनिधि और राजनेता को माँ की तरह रहना चाहिए और आम आदमी के दुख-सुख से सीधे जुड़ाव रखना चाहिए। यह मेरे राजनीतिक और सामाजिक

जीवन के लिए मूलमंत्र की तरह है और मैं हमेशा इसी के अनुरूप चलने की कोशिश करता हूँ। विधायक बनने और बड़ी ज़िम्मेदारी मिलने के बाद मुझमें तेज़ी से बदलाव आए थे। मैं अधिक व्यापक स्तर पर सोचने लगा, मेरी ऊर्जा और सक्रियता का स्तर भी बढ़ा। मैंने जाना कि परिणाम महत्वपूर्ण है, क्योंकि जनता के लिए प्रयास या प्रक्रिया से ज़्यादा आवश्यक है, काम होना। आम लोगों के जीवन में बदलाव आता है काम होने से, चाहे वे काम छोटे-छोटे हों या बड़े। मैंने बड़ी जल्दी समझ लिया कि कर्मठता जनप्रतिनिधि का सबसे बड़ा गुण है।

मैं हरसम्भव प्रयास में यक़ीन रखता हूँ और ऊपरी स्तर तक भी अपनी बात रखने से नहीं झिझकता। इसके फ़ायदे भी मिले। जब खैरागढ़ में डीएफ़ओ ऑफ़िस को बंद करने की बात हो रही थी, तो मैंने इसे निरस्त कराने के प्रयास किए। पेयजल समस्या के निदान के लिए जल आवर्धन योजना मेरे ही कार्यकाल में स्वीकृत हुई थी। ख़ास बात यह कि अविभाजित मध्यप्रदेश में तब पेयजल योजना के लिए पाँच जगहों पर ही मंजूरी मिली थी, जिनमें खैरागढ़ भी था। इस बेहद महत्वपूर्ण काम में मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह का सहयोग मिला था।

मैं केवल काम करने पर ज़ोर देता हूँ। विरोध का मेरी कार्यशैली में कोई स्थान नहीं। इसलिए मैं अपने राजनैतिक विरोधियों की आलोचना भी नहीं करता। मैं सबसे सीखने और सबके सहयोग को सम्मान देने, याद रखने का प्रयास करता हूँ। यह भी शायद खैरागढ़ का ही गुण है, जहाँ राजनीतिक शक्ति के साथ ही ज्ञान, लेखनी, कला, संगीत, समाजसेवा और मिलनसारिता को भी बराबर मान मिलता है।

खैरागढ़ से अपने जुड़ाव पर लौटूँ, तो जैसा कि मैंने पहले कहा, यह सदियों का सम्बंध है और आगे भी बराबर बना रहेगा। हमारी अगली पीढ़ी भी इस जुड़ाव को महसूस करती है। यद्यपि पढ़ाई-लिखाई के कारण बेटे-बेटी का अधिकांश समय बाहर ही बीतता है, लेकिन वे खैरागढ़ आते रहना चाहते हैं। ख़ासतौर पर बिटिया तो यहाँ आने को बेहद उत्सुक रहती है। उन्हें खैरागढ़ के संस्कार मिले हैं। मैं भी उन्हें यहाँ की बातें, अपने बचपन के क़िस्से, वंश परम्परा, यहाँ के लोगों आदि के बारे में बताता रहता हूँ।

खैरागढ़ ने रियासतकाल में एक राष्ट्रीय पहचान बनाई और आज़ादी के बाद भी इस विशिष्ट पहचान को क़ायम रखा। इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के रूप में यह पहचान और पुख़्ता हुई। इस शहर का नाम प्रदेश की सीमाओं तक ही सीमित नहीं है। प्रदेश के बाहर भी मेरी कई ऐसे व्यक्तियों से मुलाक़ात हुई, जिन्होंने खैरागढ़ सुनते ही कहा- हाँ-हाँ, हम जानते हैं। ऐसे क्षण मुझे गर्व से भर देते थे।

चूंकि यह एक रियासतकालीन शहर है, इसलिए इसकी सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने के प्रयास होने चाहिए। खैरागढ़ अपनी मेहमाननवाज़ी के लिए जाना जाता है। यह शांत और आकर्षक है। संरचना और सुविधाओं के लिहाज़ से यह बेजोड़ रहा है। यहाँ सुकून की अनुभूति

होती है। इसके आसपास के क्षेत्र में प्रकृति-पर्यटन के अनेक स्पॉट विकसित हो सकते हैं। खैरागढ़ में एक आकर्षक पर्यटन स्थल बनने की अपार सम्भावनाएँ हैं। हमें लोगों को यहाँ आने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

अब समय ऊँची छलांग लगाने का है। खैरागढ़ को 1934 से तहसील का दर्जा प्राप्त है और 1952 से यह सब-डिविजन है। अब इसे ज़िले के रूप में स्थापित होना चाहिए। यहाँ आसपास जंगल हैं, जिनमें भरपूर बाँस होता है। वनोपज भी अच्छी होती है। इसके उचित दोहन के लिए यहाँ उद्योग लगने चाहिए, जिससे स्थानीय युवाओं को रोज़गार भी मिलेगा। बतौर राजनेता, बतौर खैरागढ़ी ये सब मुद्दे मेरी प्राथमिकता सूची में हैं। मुझे उम्मीद है कि हम सबके सम्मिलित प्रयासों से खैरागढ़ अपने सर्वश्रेष्ठ स्वरूप को प्राप्त करेगा।

लेखक कांग्रेस के राष्ट्रीय प्रवक्ता हैं। सांसद तथा विधायक रहे हैं। सम्पर्क- 9406222222

पान खाए भइया हमारो...

*खैरागढ़ की बोली और उस बोली को बोलने वाले हमजोलियों के बीच की अद्‌भुत आत्मीयता का बखान कर रहे हैं **डॉ. गोरेलाल चंदेल***

अपने अंदाज़ और जीवनशैली के चलते खैरागढ़ एक अलग पहचान बनाने में सफल हुआ है। एक ऐसी पहचान, जिसका चेहरा खैरागढ़िया, भाषा खैरागढ़िया, शौक़ खैरागढ़िया और स्वभाव खैरागढ़िया है। चलिए, हम उस खैरागढ़ को देखें, जिसके लिए यह जाना-पहचाना जाता है। इतिहास और संस्कृति में अपना अलग स्थान सैकड़ों वर्षों से बनाए हुए है।

छोटे शहर या नगर की धड़कन का केंद्र होती हैं, पान की दुकानें और चाय की गुमटियाँ। पान के पत्तों की तरह नगर के दिल में न जाने कितने-कितने चूने-कत्थे का रंग चढ़ता रहता है और अपने पूरे रंगों के साथ कभी तेज़ तो कभी धीमी गति से धड़कता रहता है। चाय की केतलियों में मिठास घोलते रहता है। पान की दुकान जीता-जागता अख़बार होती है, जहाँ नगर और आसपास के इलाक़े की हर ख़बर तैरती रहती है। वहाँ जो भी गया, उससे सराबोर हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसी ही एक दुकान है- 'काश्मीर पान भंडार'। कश्मीर को 'काश्मीर' बना देना भी खैरागढ़िया अंदाज़ हो सकता है। नगर के हर वर्ग- छोटे-बड़े, नौकरीपेशा, सेवानिवृत्त, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, साहित्य प्रेमी, जूता गाँठने वाले चर्मकार, ठेला चलाने वाले मज़दूर के मुँह को प्यार के रंग में रंगने में इस दुकान का कोई जवाब नहीं है। नगर के भाईचारा और संवेदनात्मक जुड़ाव को यहाँ पूरी शान के साथ देखा जा सकता है। यहाँ सब एक-दूसरे से 'भइया' 'काका' या 'दादा' के रिश्तों और सम्बंधों से बंधे होते हैं। अटूट और मज़बूत खैरागढ़िया बंधन में।

रोज़ सुबह से रात तक यहाँ लोगों का आना-जाना लगा ही रहता है। कोई कुछ देर रुकता है,

अपनी जानकारी अन्य के साथ साझा करता है और अन्य से जानकारी प्राप्त जानकारी को जहाँ जाता है, बड़ी दिलेरी और उदारता के साथ बाँटता चलता है। पर सुबह 10.30 से 12 बजे तक और शाम 6 बजे से रात 8.30-9 बजे का समय काश्मीर पान भंडार को खैरागढ़िया अंदाज़ में कश्मीरी गंध से भर जाता है, जिसकी गंध नगर की गलियों और सड़कों तक बिना प्रयास के फैलती रहती है। यह पाँच-छह लोगों की मंडली के लिए आरक्षित समय है। इस ग्रुप को लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। कुछ अच्छा, तो कुछ असंसदीय भी। पर मज़े की बात यह है कि असंसदीय नाम से पुकारने वाले लोगों में भी इस टोली के प्रति प्यार और सम्मान छलकता रहता है। इस ग्रुप के साथ जुड़ने की लालसा नगर के सम्मानित लोगों में होती है, इसलिए लोग अलग-अलग ढंग से जुड़ते और हटते रहते हैं।

मैं इसे 'मस्तराम ग्रुप' कहता हूँ। मैं भी लगभग-लगभग इसका हिस्सा हूँ। लगभग-लगभग इसलिए कि मैं इसकी सुबह की मंडली का ही हिस्सा बन पाया हूँ। मैं जब पढ़-लिख कर उठता हूँ, तो बड़ा तनाव में रहता हूँ। इस ग्रुप की बातों से मेरा तनाव दुम दबाकर भाग जाता है। मैं ज़्यादातर उनकी बातें सुनता रहता हूँ। उनके मुहावरे और उनकी भाषा से कभी-कभी तो पेट में बल पड़ने लगते हैं। पान वाला साहू भी जाने-अनजाने में मस्तराम ग्रुप का अभिन्न अंग बना रहता है। इस ग्रुप के लोगों की वास्तविक दिनचर्चा पान दुकान से ही शुरू होती है और समाप्त भी रात 8-9 बजे पान-दुकान में ही होती है। एक व्यवसायी, तीन सेवानिवृत्त शिक्षक, एक जल संसाधन का बाबू, एक सेवानिवृत्त समिति सेवक इस ग्रुप के नियमित बैठकबाज़ हैं। सुबह की बैठक में सातवें सदस्य के रूप में मुझे भी गिन लीजिए।

घड़ी का काँटा 10.30 पर पहुँचा नहीं कि मस्तरामों का आगमन एक-एक कर शुरू होता है। उनसे पूछा जाए कि ठाकुर साहब नहीं आए क्या, तो जवाब मिलता है, 'बस आते होंही, हिसाब-किताब में बइठे होंही, तभे देरी होगे।' दूसरे ठाकुर साहब के बारे में पूछा जाए, तो उत्तर अनूठा- 'एक ट्रिप हो गे हवे, दूसर ला घर ले आवत होंही।' और ठाकुर साहब सचमुच पहुँच जाते हैं। मोटर साइकिल पर सामने एक बच्ची, पीछे दो बच्चे। आते ही यह गुहार- 'साहू, ये मन ला दु-दु ठो चाकलेट दे दे यार।' साहू निर्विकार भाव से बोलता है, 'काली के पैसा नइ दे हस, पैसा निकाल तब देहूँ।'

'ले लेबे न निपोर, में भागत हवँव का!'

'भइगे, ऐसने कह-कह के कतको दिन के बचे हे, कतेक ला सुरता रखबे।'

बग़ल से गुप्ता जी चिल्लाते हैं- 'झन देबे, झन देबे साहू जी, बिना पैसा ले झन देबे।'

'तोला का करना है रे फलान-ढेकान, हमर बीच के बात हे।'

'तोला कसम हे साहू जी, देबे त।'

और कुछ देर बाद साहू सभी बच्चों को चॉकलेट दे ही देता है। वाह रे खैरागढ़! जब ठाकुर चिल्लर न होने के नाम पर पचास या सौ का नोट दे देते हैं, तो साहू पैसा वापस ही नहीं करता और कह देता है- 'होगे, पूरा होगे, तीन-चार बेर के दस-दस रुपया पान अउ चॉकलेट के बाकी रिहिस, कट गे।'

ठाकुर साहब को कोई ग़ुस्सा नहीं, नाराज़गी नहीं। शांत भाव से हँसते हुए कहते हैं, 'ये ला पइसा दे न तहँले इही हाल हे।'

बग़ल से पंडित जी बोलते हैं, 'अरे कंगला, खाय हस त देबे नई रे!'

ठाकुर साहब ने साहू का तोड़ निकाल लिया। पान खाना हो, तो गिनकर तीन रुपए चिल्लर ही देते हैं। साहू कई बार उसे भी पुराने हिसाब में काट देता है। इस बीच समिति सेवक रहते हैं, तो उनका कमेंट सबको खिलखिलाने पर विवश कर देता है, 'हमन दुनों एक बरोबर हन रे।'

'तैं मोला अपन साथ मत जोड़ रे कंगला!' और समिति सेवक मुझे सम्बोधित करते हुए कहते हैं, 'देखो मास्टर जी, साहू हा बिना पैसा के न एला पान दे न मोला दे। हो गेन नहीं बराबर?' मैं कहता- 'हाँ भाई, तुम्हारे एक बरोबर, भाई-भाई होने में तो ब्रह्मा को भी धोखा खाना पड़ेगा।'

और पुराना बकाया का रोना रोने वाला साहू, पाँच मिनट भी नहीं बीतेगा कि प्यार से पान लगाकर उन्हीं गोपू और जग्गू को प्यार से पान का बीड़ा थमाते हुए कहता है, 'लो जी!' इसकी अभिव्यक्ति के लिए मुझे कोई शब्द ही नहीं सूझता। इसलिए मैं अपने शब्द भंडार के ख़ज़ाने से बहुमूल्य शब्द निकाल लाता हूँ- 'यही खैरागढ़िया है, नमकीन सागर में प्यार और बंधुत्व का अमृत-स्रोत।'

मस्तराम टोली की चर्चा सट्टे से शुरू होती है कि कल किसने क्या पाया, क्या खोया और समाप्त होती है रात की 'योजना' के लिए मज़बूत ज़मीन तैयार करने की चर्चा के साथ। किसी की मज़बूत ज़मीन जब खिसकने लगती है, तो दूसरे लोग गिट्टी-सीमेंट की व्यवस्था कर ज़मीन को मज़बूत बनाने में सहयोग करते हैं। इस बीच भाषा का ऐसा बिंदास प्रयोग होते रहता है कि अभद्रता भी डूब मरे। कई बार तो भद्रता-अभद्रता को किनारे करके ऐसे नोक-झोंक होती है कि मस्तराम टोली के समन्यवादी चरित्र की शान से वंचित लोग यही समझने लगते हैं कि ये अब ज़िंदगीभर एक-दूसरे का मुँह नहीं देखेंगे। पर पाँच मिनट भी नहीं गुज़रते कि...

'भइया चल चाय पी के आथीं।'

'बस चाय? चाय के साथ कुछ बरा-उरा?'

'अरे चल न, तोर काबर फटत हे, जेन खाबे ... के फटत ले खवा दुहूँ।'

'महुँ चलवँ का ठाकुर?'

'चल फेर चाय पिएबर, तें लुआठ मोतीचुर के लाडू ला भकोसथस।'

और पूरी टोली गुजराती होटल की ओर रवाना हो जाती है। न ख़ुशी, न ग़म। वीतराग होकर। मुझे लगता है कि कोई माया-मोह से मुक्त वीतरागी संन्यासी भी इस टोली की तरह वीतराग की साधना न कर पाए।

मस्तराम टोली की बैठक से कभी-कभी पानवाला साहू नाराज़ हो जाता है। मुझसे कहता है- 'इंखर बकबक के मारे ग्राहिक नइ आए मास्टर जी। अब बेंच ला इहाँ ले हटा दुहूँ।' और सचमुच दूसरे दिन बेंच नदारद। मस्तराम टोली का सिंहासन ग़ायब।

'ये स्साले लुका दिस, मत बइठे कहिके।'

'हमन नइ आबो त इहाँ कुकुर मुते बर नइ आही।'

'हमन ये साहू के भरोसा हन का?'

'नहीं भइया, आजेच फाइबर वाले स्टूल खरीदबो। साहू ला देखा देबो।'

और मस्तराम टोली के पाँच सदस्यों ने आनन-फानन में अपनी-अपनी ओर से एक स्टूल का पैसा देने का वादा कर दिया। फिर क्या था, शहर के सम्मानित व्यक्ति तो वे थे ही, कौन दुकानदार मना करता! तुरंत गए बग़ल की ताम्रकार दुकान में और पाँच स्टूल पक्का कर लिया। अपनी सुविधानुसार वे स्टूल लाकर बैठने लगे। उन स्टूलों का स्थायी डेरा ताम्रकार की दुकान ही था। पर साहू कहने लगता था- 'टोली बिना सुन्ना लगथे मास्टर जी।' टोली का सिंहासन वह रेचका बेंच फिर हाज़िर हो जाता था। टोली के सम्मानित मेम्बरान फिर से बिना किसी ना-नुकर के रेचका सिंहासन पर विराजने से नहीं चूकते। रात में दुकान से हटकर सड़क के किनारे रेचका बेंच और स्टूलों की महफ़िल जम जाती। मैं कभी शाम को पहुँचता और सीटें भरी हों, तो तुरंत कहते- 'दाऊ जी, ओ दुकान ले स्टूल ला लो न।' मैं वहाँ से स्टूल लाकर टोली में शामिल होकर गपियाने लगता। ख़ुद साहू अपने नाती को दुकान सौंपकर बाहर आता, तो इस टोली के पास खड़े-खड़े ही बतियाता और ख़ुश होता।

'जा ना निपोर, तोर तो बेरा होगे।'

'एक पउवा वाले ताय।'

'नइ, अइसन झन समझबे। अद्धी ला घलो डकार देथे।'

'हमर ब्यबस्था त होगे हे।' कहकर साहू ख़ुश होता रहता। वाह रे खैरागढ़। गाली-गलौज की भाषा का थोड़ा भी मैल किसी पर न चढ़ता। एक-दूसरे के प्रति इतना आत्मीय जुड़ाव, एक-दूसरे की बुराई को नज़दीक न आने देने का ऐसा उदाहरण पूरे विश्व में शायद ही कहीं मिले। यही है खैरागढ़िया।

वैसे तो रोज़ कुछ न कुछ खैरागढ़िया रंग इस टोली में दिखाई देता या घटित होता रहता है, पर कभी-कभी विशेष रंग भी दिखाई देता है, जिसमें सिर से पाँव तक बिना रंगे आप रह ही नहीं सकते। उनकी भाषा के पानी में मस्ती का रंग हमेशा तैयार रहता है। जाने कब किस पर उड़ेल दें। ऐसी ही एक घटना, जिसका रंग आज भी मेरे दिमाग़ से छूट नहीं पाया है। जब मैं मस्तराम टोली में पहुँचा, तो टोली गुजराती होटल की ओर से आ रही थी। अपने अंदाज़ में। पर आज सबके चेहरे पर हँसी का एक अलग ही रंग दिखाई दे रहा था। आज तो वह हो गया, जिसके सपने में भी पूरा होने की सम्भावना नहीं थी।

'ये तो आपके ही दिमाग़ के कमाल हे।' पंडित जी, गुप्ता जी से कह रहे थे। मैं सोचने लगा, हे भगवान, आज ये लोग कौन-सा करतब कर आए हैं। इन्होंने आज क्या गुल खिलाया है। मैं प्रश्नों के भँवर में फंसा था। उससे बाहर निकलने के लिए यह जानना ज़रूरी था कि इन लोगों ने आज कमाल कौन-सा किया है। रहा ही नहीं गया। उतावला मन कब तक रुक सकता था! पूछ ही डाला गुप्ता जी से- 'का होगे भाई साहब?'

'अरे, आठवाँ आश्चर्य, चंदेल जी!'

'आप लोग तो विश्व के आश्चर्यों में इजाफ़ा करते ही रहते हैं, पर आज क्या हुआ?'

'मत पूछ भई, आज तो मजा आ गे।'

'अरे हमूँ ला मजा लेवन देहू?'

'बताबो न। बताबो, थोरिक सिगरेट त ला।'

'ला साहू जी, भइया के सिगरेट दे अउ हमला पान खवा।' दाऊ जी बोल रहे थे।

मैं फिर आश्चर्य की खाई में गिरा। कुबेर के उपासक दाऊ जी आज उदारता की गंगा बहाने पर तुले हुए हैं! क्यों? दाऊ जी के हाथ में एक छोटा-सा रेगजीन का बैग। कहते थे कि इस बैंक से पैसा निकालकर उस बैंक में जमा करवाना उनका शगल है। शायद इससे कुबेर को प्रसन्नता होती होगी। पर मैं तो जानने के लिए कुलबुला रहा था।

'अब तो बता दो भाई साहब!'

'काला बताबे! आज तो कउआ के कुला ले अमृत टपके हे!!'

यह मुहावरा सुनकर मैं सचमुच ज़मीन से उड़ने लगा। मुझे यह गुमान था कि इस टोली में हिन्दी भाषा का सबसे अच्छा जानकार मैं ही हूँ, पर आज तो मेरा सारा गुमान और गुरूर चकनाचूर हो गया। मेरे दिमाग़ में मुहावरा कोश के तमाम मुहावरे नाचने लगे, पर कहीं भी कौए के पिछवाड़े से अमृत टपकने वाला मुहावरा मुझे नज़र नहीं आया। विश्व मुहावरा कोश भी इस मुहावरे के आगे हाथ जोड़े खड़ा था। इस मुहावरे का भाव तो मैं थोड़ा-थोड़ा समझ रहा था, पर बहुत सिर पटकने के बाद भी यह अनुमान न लगा सका कि वह कौआ कौन है, जिसके पृष्ठ भाग से अमृत टपका था। एक क्षण को एक चेहरा घूमा, पर वह तो अभी-अभी सभी को पान-सिगरेट दिला रहा था। मुझे लगा कि कोई महान व्यक्ति ही होगा, जो इस उपमा का हक़दार बना है। मैंने पूछा भी। 'रहन दो भाई साहब, कुछ बात को तोपना भी जरूरी होता है।' मैं थोड़ा और समझा और खिलखिलाकर हँस दिया- उस आदमी के बारे में सोचकर, जिसके लिए इस महानतम मुहावरे का आविष्कार हुआ है। ऐसा मुहावरा तो खैरागढ़िया रंग से रंगकर निकलना ही सम्भव है।

खैरागढ़िया रंग की यह मात्र एक झलक है। यह अकथ कथा है, जो कभी समाप्त नहीं हो सकती। मस्तराम टोली की पूरी कथा उपन्यास की विषयवस्तु है और मुझ जैसे नादान, नासमझ और अल्पज्ञानी के लिए पूरी कथा कह पाना सम्भव भी नहीं है। खैरागढ़ के इन मस्तरामों के भीतर के आदमी को देख-देखकर ख़ुश होना ही मेरे हिस्से में है।

लेखक वरिष्ठ आलोचक और साहित्यकार हैं। सम्पर्क- 9425560759

सपनों का वह खैरागढ़ कहाँ?

***डॉ. जीवन यदु** उस खैरागढ़ को खोज रहे हैं, जो उनके सपनों में आता है, पर जो कल्पना नहीं है, कभी हक़ीक़त हुआ करता था*

आज भी मेरे सपनों में मेरा खैरागढ़ आता है। सपना जब टूटता है, वे दृश्य जो मैंने सपने में देखे थे, कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। लोग कहते हैं कि सपने सच नहीं होते, किंतु मैं जिस खैरागढ़ को सपने में देखता हूँ, वह कभी सत्य था। इसलिए मैं जिस खैरागढ़ को सपने में देखता हूँ, वह खैरागढ़ के सत्य की अशेष परछाईयाँ हैं। मेरे लिए इतना भी काफ़ी है कि मेरे खैरागढ़ की परछाईयाँ मेरे सपनों में आज भी तैरती हैं।

सपना टूटने के पश्चात मैं अपनी स्मृतियों को टटोलता हूँ, उनका सुखद स्पर्श करता हूँ, उनके तल में उतरने की कोशिश करता हूँ। और जब उसे पा लेता हूँ, तो आनंद से भर उठता हूँ। मैं जानता हूँ कि साठ साल की उम्र के ऊपर चढ़ जाने के बाद ख़ुद को स्मृतियों से भरने का सबसे अच्छा समय होता है। इस 'समय काटू' उम्र में चार हमउम्र मित्र मिल जाते हैं, तो स्मृतियों के पिटारे का ताला स्वयं खुल जाता है। एक-दूसरे को कुरेदते हुए कितने सारे दृश्य आँखों के सामने झूल जाते हैं।

कभी सपने में खैरागढ़ का पुराना बस स्टैंड आता है, जिसके बीचों-बीच एक इमारत थी। उस इमारत के एक कमरे में स्व. ज़हीर मुंशी जी बस टिकट काटते थे। शेरो-शायरी के बड़े शौक़ीन, बड़े जानकार और क़व्वाली गायिकी में कुशल। उनके लिए भी मैंने कुछ रचनाएँ की थीं। उस इमारत के एक ओर स्व. ईश्वरी पंडित का होटल था। उस ज़माने में वह काफ़ी चलने वाला होटल था। उसके अधिक चलने का एक बड़ा कारण स्वयं ईश्वरी पंडित थे। वे अपने ग्राहकों से जिस लहज़े में बातें करते थे, वह लहज़ा एकदम औरताना था, महिलाओं वाला। वही गाली, वही अदा। उन्हें पुरुष की घोषणा करने वाली उनकी ऐंठी हुईं घनी-काली मूँछें होती थीं। यदि खैरागढ़ के पुराने बस

स्टैंड पर क़व्वाली का कार्यक्रम हो, तो स्व. ईश्वरी पंडित पूरी अदा से नाचते हुए कुछ रुपए क़व्वाल पर निछावर अवश्य करते थे।

इमारत के चौतरफ़ा रास्ते थे। आज भी हैं, किंतु इमारत बदल गई है। नगर पालिका द्वारा शॉपिंग कॉम्प्लेक्स बना दिए गए हैं। आज रास्ते इतने भरे-पूरे हैं कि आप दस-पाँच मिनट खड़े होकर मित्रों के साथ सड़क-वार्ता भी नहीं कर सकते। इधर आपने अपनी सायकल खड़ी करके सड़क-वार्ता शुरू की, उधर आपके ऊपर किसी नौजवान की मोटरसायकल चढ़ी। मैं उस खैरागढ़ को अपने सपने में देखता हूँ, जहाँ हम मित्र सड़क पर घंटों खड़े होकर चर्चा करते रहते थे।

इसी बस स्टैंड के एक कोने में स्व. जगदीश श्रीवास का सैलून हुआ करता था। वे नाचा कला के कुशल कलाकार थे। उनके सैलून में एक रेडियो ग्राहकों के मनोरंजनार्थ बजता रहता था। मुझे अभी ठीक से याद नहीं आ रहा है, किंतु मुझे लगता है कि वह दिन रविवार का हुआ करता था। उस दिन हम दो-चार मित्र सैलून के बाजू की सीमेंटेड बैंच (जिसे हम लोग पुलिया कहते थे) पर जम जाते थे और जब तक अमीन सयानी द्वारा प्रस्तुत बिनाका गीतमाला समाप्त नहीं हो जाती थी, उठते नहीं थे। उस गीतमाला को सुनकर लगता था कि छुट्‌टी के दिन की शुरुआत अच्छी हुई है। यह तब की बात है, जब रेडियो बहुत कम घरों में हुआ करता था। उसकी आवाज़ कुछ सम्पन्न घरों से ही सुनाई देती थी। ट्रांजिस्टर का ज़माना शुरू नहीं हुआ था।

आज मुझे वे आम के बाग़ीचे और झाड़ियाँनुमा सीताफल के पेड़ दिखाई नहीं देते, जो मेरे सपनों में अक्सर आते हैं और जिनसे मेरे बचपन की अनेक स्मृतियाँ जुड़ी हैं। मुझे वे दिन याद आते हैं, जब मैं अपने बाल-मित्रों के साथ उन बाग़ीचों में साधिकार मगर रखवालों की नज़र बचाकर घुस जाता था। उन दिनों चुराकर फल खाना अच्छा लगता था। मन के किसी कोने में वीरता का भाव भी रहता था। जब रखवाले देख लेते, तो दूर तक दौड़ाते थे। वे यह जानते थे कि ये सब बालसुलभ शरारतें हैं- बस।

कहाँ गए वे पेड़ और बाग़ीचे? सीताफल की झाड़ियाँ तो खैरागढ़ की पहचान हुआ करती थीं। एक बार एक मित्र, जो भोपाल में एक बड़ी पत्रिका के सम्पादन से सम्बंध रखते थे, ने कहा था- 'खैरागढ़ के सीताफल का स्वाद आज भी मुँह में है। वहाँ यह फल कितना सस्ता और बहुतायत से मिलता था। क्या आज भी है?' वे मित्र अपने बचपन में खैरागढ़ में रह चुके थे, यही बताया था उन्होंने।

नदियों के किनारे अब न कैट के पेड़ दिखाई देते हैं, न इमली के। तब वे पेड़ अपने पेड़ होने की संज्ञा से भी अधिक बाल-मनोरंजन के साधन हुआ करते थे। मेरी स्मृति में एक ऐसा लड़का आता है (जो अब है या नहीं, मैं नहीं जानता) जो पेड़ों पर बंदरों की तरह छलांग लगाता था। शायद किलापारा का रहने वाला था। वह किलापारा में रहने वाले सहपाठी मित्रों का मित्र हुआ करता था। उसके लिए कैट के पेड़ों पर चढ़ना और कैट तोड़-तोड़कर नीचे गिराना उतना ही आसान था, जितना

हमारे लिए चार फुट की दूरी को कूदकर लाँघ जाना। एक मित्र ऐसा था, जिसके निशाने का सब लोहा मानते थे। वह गुलेल की गोटी से आम और कैट गिराया करता था। और चिड़ियों का शिकार भी किया करता था।

मेरे सपने में एक नदी आती है- आमनेर। इस नदी को मैंने अपने गीतों में भी स्थान दिया है। बचपन में यह नदी गंगा और यमुना से भी महान लगती थी। सदा-नीरा नदी थी। अब नदी सूख भी जाती है। कहीं-कहीं पानी इतना कम रहता है कि गर्मियों में पानी से सड़ांध आती है। नदी का वह रूप कहाँ गया? ग़नीमत है कि मेरे सपनों में आमनेर आज भी सदानीरा है, यही संतोष है।

मेरे सपने में एक स्कूल आता है- विक्टोरिया हाईस्कूल। तब यही नाम था। आज, वह खैरागढ़ में जन्म लेकर पूरे देश में यश कमाने वाले साहित्यकार डॉ. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के नाम पर चल रहा है। शायद यह स्कूल अपनी ऐतिहासिकता को लेकर रायपुर के हाईस्कूल के बाद छत्तीसगढ़ में दूसरे स्थान पर है। उस स्कूल में अध्ययन-काल में छात्रगण प्रांगण में क़दम रखते ही गौरव से भर जाते थे। हमारे शिक्षकों ने हमारी स्मृति में गाढ़ी स्याही से लिख दिया था कि यही वह स्कूल है, जहाँ साहित्य वाचस्पति डॉ. बख्शी ने शिक्षा पाई थी और अध्यापक भी रहे। यही नहीं, इसी स्कूल में बख्शी जी के गुरु और मध्यप्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल अध्यापक रहे हैं। इन बातों को याद करते हुए हम छात्रों की आँखों से एक सुखद स्वप्न-सा गुज़र जाता था।

उस स्कूल में दो शिक्षक ऐसे हुआ करते थे, जो शालेय अनुशासन के सिपहसालार थे। स्व. जयशरण सिंह जी मिडिल स्कूल में थे और स्व. के.डी. झा साहब हाईस्कूल में। जब ये शालेय प्रांगण में चरण धरते, तो सारा स्कूल शांति की चादर में ढँक जाता था। और अनुशासन की शिक्षा निःशब्द शुरू हो जाती थी। ये दोनों अध्यापन शैली और अपने विषयों में इतने कुशल और प्रभावशाली थे कि हर वह छात्र जो अध्यापक बनने का स्वप्न पाले हुए था, उन्हें अपना आदर्श मानता था। एक शिक्षक मि. कमाल थे, जो विश्वभर का भूगोल केवल नक़्शे में पढ़ाते चले जाते थे। हम छात्रों को बड़ा आश्चर्य होता था।

शालेय-जीवन की अनेक मनोरंजक घटनाएँ हैं, जिन्हें कहने बैठूँ, तो कई दिन गुज़र जाएँ और लिखूँ, तो पूरी पोथी बन जाए। जब उम्र बढ़ जाती है, तो संस्मरणों की तिजोरी का ताला अपने-आप खुल जाता है। बढ़ी उम्र वालों को अपने संस्मरणों को अपने स्मृति-पटल पर लाना और सुखद स्वप्न की तरह अनुभव करना अच्छा लगता है। उससे भी अच्छा लगता है, अपनी नई पीढ़ी को सुनाना। यही कारण है कि बहुत से उम्रदराज़ लेखक संस्मरणों की मोटी पुस्तक लिख डालते हैं।

आज मैं सपनों-से सुखद लगते खैरागढ़ से दूर आ गया हूँ। जब भी मैं सड़कों पर से या बाज़ार से गुज़रता हूँ, तो अजनबी चेहरों की भीड़ दिखाई देती है। मैं ख़ुद से पूछता हूँ- कहाँ गए वे परिचित चेहरे? कहाँ गए वे चेहरे, जो अपनी आत्मीयता के कारण मुझे खैरागढ़ की पहचान लगते थे। क्या वे इस क़स्बाई बनावट-बुनावट वाली आबादी को छोड़कर अन्य शहरों में बस गए या फिर

मेरी तरह अजनबीयत से ग्रस्त होकर घर-घुस्सू हो गए! आज मुझे अपना नगर अजनबी क्यों लगता है? शायद इसका कारण मैं स्वयं हूँ, जो समय के इस स्वाभाविक परिवर्तन को समझने में असमर्थ हो रहा हूँ। खैरागढ़ एक गाँव की तरह अपने स्थानीय सम्बंधों में जीने वाला नगर है। यदि इसमें फाँक पड़ती है, तो तकलीफ़ होती है।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि समय के साथ सबकुछ बदल जाता है। आज का खैरागढ़ हमारी नई पीढ़ी का खैरागढ़ है। अपना वाला खैरागढ़ कहीं पार्श्व में चला गया है, जो मेरे हमउम्रों की स्मृतियों में आबाद है और सपनों में आता रहता है।

लेखक हिन्दी और छत्तीसगढ़ी पर बराबर अधिकार रखने वाले प्रसिद्ध गीतकार हैं।
सम्पर्क- 9752023921

गढ़ छोटा पर नाम बड़ा

*कच्ची गलियों और पक्के रिश्तों वाले शहर को याद कर रहे हैं **बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु'**, जो आधी सदी पहले भी राष्ट्रीय पहचान रखता था*

समय के साथ हर जड़ और चेतन में परिवर्तन होता रहता है, यह अंतिम सत्य है। लगभग 45 वर्ष पूर्व मैं पिताजी स्व. रामगोपाल गुप्ता की शासकीय सेवा से निवृत्ति के बाद अपने जन्म स्थान, अपने घर खैरागढ़ आया था। तब छोटे-से शहर का बाज़ार भी छोटा था। रोज़ लगने वाला गोल बाज़ार और रविवार को लगने वाला इतवारी बाज़ार। ये दोनों मुख्य रूप से सब्ज़ी बाज़ार ही थे, परंतु अन्य अधिकांश दुकानें भी इन्हीं क्षेत्रों में थीं। इन दो बाज़ारों को जोड़ने वाली सड़क, जो विश्वविद्यालय को भी जोड़ती थी, यानी नगर की मुख्य सड़क थी, वह भी डब्ल्यूबीएम थी। दोनों स्थानों पर राशन की दुकानें भी थीं, पर ज़्यादातर दुकानें पसरे वाली ही थीं- 20-20, 25-25 किलो राशन वाली। भिंडी जैसी सब्ज़ियाँ गिनती में मिलती थीं या फिर भाग में। आम, सीताफल जैसे फल सैकड़े में बिकते थे, पर एक सैकड़ा होता था 132 का। एक हाथ में छह आम या सीताफल होते थे और सैकड़े में 20 हाथ हिसाबे जाते थे। दो हाथ पुरौनी में दिए जाते थे। यानी कुल 132।

सब्ज़ी ख़रीदने मैं या पिताजी जाते थे। पिताजी प्रायः मटिया और सुगन ठाकुर से ही सब्ज़ियाँ ख़रीदते थे। नक़द भी और कभी-कभी उधार भी। पेंशन मिलते ही उधार चुका देते थे। एक दिलचस्प बात यह होती थी कि जब दोनों के पास मौजूद सब्ज़ियाँ पसंद नहीं आती थीं, तो ठाकुर से रुपए उधार लेकर किसी और से सब्ज़ी ख़रीदते थे। और ठाकुर भी 'ले महराज, तोर लाइक सब्जी नईं हे तो पइसा ले ले अऊ दुसर जगह ले खरीद ले' कहते हुए बड़े आदर से रुपए दे देता था।

होली-दिवाली क्या, भोजली और हलषष्ठी जैसे छोटे-छोटे पर्वों में भी लोग एक-दूसरे के घर जाया करते थे। भोजली विसर्जन के लिए लड़कियाँ और महिलाएँ अपनी भोजली लेकर तुरकारी

पारा स्थित स्व. रामसहाय गुप्ता के निवास पर एकत्रित होतीं, फिर जुलूस की शक्ल में सब नदी जाते। पर हमारे यहाँ भोजली का विसर्जन घर की पानी की टंकी में ही हो जाता था। इस अवसर पर फोड़ा जाने वाला कच्चा नारियल और भोजली लेकर मैं स्वयं रिश्तेदारों और पड़ोसियों के यहाँ जाता था। हरछठ (हलषष्ठी) में भी लाई के दोने पास-पड़ोस और सामाजिक बंधुओं के यहाँ पहुँचाना मेरे ही जिम्मे था। होली-दीपावली में तो यह आलम होता था कि मेल-मिलाप के दौरान प्रसाद और नाश्ते से ही पेट भर जाता था, इसलिए घर में खाना नहीं हो पाता था।

होली और दिवाली में स्व. जी.बी. प्रसाद, स्व. ज्ञानेंद्रलाल टहनगुरिया और कपिल नारायण श्रीवास्तव की तिकड़ी हमारे घर अवश्य आती थी। स्व. प्रसाद और स्व. टहनगुरिया को तो मैं चाचाजी कहता था, पर श्रीवास्तव जी को भैया कहता था, जबकि वे उम्र में सबसे बड़े हैं। स्व. प्रसाद पांडादाह में, स्व. टहनगुरिया खैरागढ़ स्कूल में और श्री श्रीवास्तव बुनियादी प्रशिक्षण संस्था में पढ़ाते थे। स्व. प्रसाद और श्री श्रीवास्तव शाम को स्व. टहनगुरिया के निवास पर पहुँचते और फिर तीनों टहलने निकलते। यह रोज़ कार्यक्रम था। श्रीवास्तव जी प्राचार्य पद से सेवानिवृत्ति के बाद अब दुर्ग में निवास कर रहे हैं, कभी-कभार खैरागढ़ आते हैं।

उम्र में मुझसे कुछ बड़े स्व. शिशिरकांत बख्शी बल्ला के होटल में जब चाय पीते थे, तब पहले आधा कप चाय का आधा हिस्सा प्लेट में लेकर उससे प्लेट को धोते थे। मैं उन्हें टोकता, तो कहते, 'गुरु, आदत है।' स्व. बख्शी राष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत चित्रकार थे। उन्होंने राज्य स्तरीय शालेय चित्रकला प्रतियोगिताओं के लिए मेरे पुत्र का काफ़ी मार्गदर्शन किया। स्व. रामकृष्ण तिवारी के यहाँ भी मेरा आना-जाना था। वे विश्वविद्यालय में संगतकार के पद पर कार्यरत थे। उन्हें लोकसंगीत का ज्ञान विरासत में मिला था। मेरे समवय मित्रों में डॉ. अरुण टहनगुरिया खैरागढ़ के ही सिविल अस्पताल में भैषज विभाग अध्यक्ष के रूप में कार्यरत हैं। कृष्णकांत बख्शी उद्योग महाप्रबंधक पद से रिटायर होने के बाद सागर में निवासरत हैं। वे साईं के परम भक्त हैं और साथ ही अच्छे भजनकार और गायक भी हैं। संजीव बख्शी छत्तीसगढ़ शासन के सचिवालय में अधिकारी थे तथा सहित्य के क्षेत्र में विख्यात और पुरस्कृत हैं। पूरन निहलानी नायब तहसीलदार से कलेक्टर के पदों पर विभिन्न स्थानों पर कार्यरत रहे। उन्होंने शिक्षक के पद पर कार्य करते हुए बी.कॉम. की परीक्षा में प्रावीण्य सूची में स्थान बनाया था। संस्कृत विषय से एम.ए. की मेरिट लिस्ट में स्थान खैरागढ़ की एक मुसलमान महिला शिक्षिका कु. बिलकिश लकरकुट्टा ने बनाया था। वे प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त होने के बाद स्थानीय सरस्वती उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में संस्कृत विषय पढ़ा रही हैं और छत्तीसगढ़ पेंशनर एसोसिएशन से भी सम्बद्ध हैं।

मंजूर अहमद ख़ान उम्र में मुझसे दो वर्ष छोटे हैं, पर मैं उन्हें चाचा कहता हूँ। यह रिश्तेदारी पिताजी के ज़माने से चली आ रही है। मंजूर के पिताजी स्व. रहमतउल्ला ख़ान जेलर थे, जो अपनी दमदार, रौबीली आवाज़ के लिए अब तक याद किए जाते हैं। तुरकारी पारा मंदिर में गणेश उत्सव

जैसा कोई धार्मिक कार्यक्रम आयोजित होता था, तो मंजूर की सक्रिय भागीदारी रहती थी। मेरे अधिकांश दोस्त तुरकारी पारा के ही थे, जो तुरकारी पारा समिति से भी जुड़े रहे हैं। घनश्याम रकटाटे और भरत श्रीवास्तव भी समिति के सक्रिय सदस्य रहे। भरत एक अच्छे मंच संचालक भी हैं। समिति में किलापारा के डॉ. अमृत चोपड़ा भी जुड़े थे, जिन्होंने बिलासपुर, रायपुर जैसे नगर निगमों में स्वास्थ्य अधिकारी के पद पर रहते हुए निगमों के कमिश्नर का दायित्व भी बख़ूबी सम्भाला है। ज़हीर मोहम्मद शेख़ और समसुल होदा ख़ान के यहां भी ईद-बकरीद में मिलने जाता था। ज़हीर अब दुर्ग में अधिवक्ता हैं।

पहले विश्वविद्यालय के शिक्षकों और शहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अध्यात्म मंडल द्वारा प्रति रविवार मंडल के एक सदस्य के घर गीता गोष्ठी का आयोजन होता था। कभी-कभी विवि के ग्रंथपाल श्री सुंदरेशन की दोनों सुपुत्रियाँ गीता का कंठस्थ पाठ करती थीं। इनमें से बड़ी छुईखदान महाविद्यालय में ग्रंथपाल हैं।

कुछ वर्ष पूर्व तक प्रातः लोगों के कानों में मधुर भजनों की स्वर लहरियाँ टकराती थीं। मदन जैन, विष्णु कन्नौजे की टोलियाँ भजन गाते हुए शहर के मुख्य मार्गों पर घूमती थीं। इससे पूर्व भागवत अग्रवाल शिक्षक रामनाम का उद्घोष करते, ताली बजाते मॉर्निंग वाक करते थे। खैरागढ़ वासियों की इस तरह सुबह होती थी।

बहरहाल, गढ़ छोटा है, पर नाम बड़ा है, इसलिए देशभर के लोग खैरागढ़ के नाम से परिचित हैं। नांदगाँव के सामने राज है, तो खैरागढ़ के पीछे। खैरागढ़ का पोस्ट ऑफ़िस भी खैरागढ़ राज के नाम पर ही है। तब मेरा साहित्य से कोई ख़ास वास्ता नहीं था। सन् 1972 के किसी दिन की बात है, जीवन यदु ने मेरे बात करने और कमेंट्स करने की शैली को ध्यान में रखकर कहा- 'गुरु, कविताएँ लिखना शुरू कर दो।' और मैं व्यंग्य कविताएँ लिखने लगा। दैनिक युगधर्म के रविवासरीय परिशिष्ट के 'काव्य मंजूषा' में निरंतर छपने भी लगा। कुछ दिनों बाद लघुकथाएँ लिखने लगा और वे भी छपने लगीं। उन दिनों मैं अपने पते की जगह सिर्फ़ खैरागढ़ राज, मध्यप्रदेश लिखा करता था। रचना प्रकाशन में भी इससे सहायता मिली। नवभारत टाइम्स प्रकाशन की पत्रिका से एक कविता की स्वीकृति वाले पत्र में पता खैरागढ़-राज मध्यप्रदेश के स्थान पर खैरागढ़, राजस्थान लिखा होने के बावजूद मुझे मिल गया था। पोस्टकार्ड पर खैरागढ़-आगरा, बैरागढ़-भोपाल और खैरागढ़ राज पोस्ट ऑफ़िस की सील लगी हुई थी।

पता खैरागढ़ लिखने का ही प्रभाव था कि बंधु कुशावर्ती के सम्पादन में चौमासिक पत्रिका के प्रवेशांक दिसम्बर 74 और उसके बाद के अंकों में भी रमेश बतरा, गंगाप्रसाद मिश्र, शिवानी, रामनारायण उपाध्याय, डॉ. रामनाथ त्रिपाठी, सुरेश उनियाल आदि के साथ मेरी लघुकथाओं को भी स्थान मिला था। कई वर्षों बाद एक पत्रिका में मेरी लघुकथा के नीचे खैरागढ़ पढ़कर बंधु कुशावर्ती ने मुझे पत्र लिखा था। अभी, 17 अगस्त 2014 को दैनिक भास्कर के रसरंग परिशिष्ट में मेरी एक

लघुकथा 'माँ' प्रकाशित हुई थी, जिसमें मेरे नाम के साथ खैरागढ़ भी छपा था। खैरागढ़ पढ़कर रॉयल हेरिटेज जबलपुर के मेजर मणींद्र बहादुर सिंह ने पत्र लिखकर ऊँचाइयों को छूने की शुभकामनाएँ दी थीं। खैरागढ़ पढ़कर ही कुछ अन्य लोगों ने भी प्रतिक्रियाएँ दी थीं। खैरागढ़ वह जगह है, जिसने छत्तीसगढ़ को नाम दिया है। 'छत्तीसगढ़' का पहला लिखित प्रयोग मिलता है 1497 ई. में। खैरागढ़ के चारण कवि दलरामराव ने लिखा है-

लक्ष्मीनिधि राय सुनौ चित्त दै, गढ़ छत्तीस में न गढ़ैया रही।
मरदानगी रही नहीं मरदन में, गढ़ छत्तीस में न गढ़ैया रही।।
भाव भरे सब काँप रहे, भय नहीं जाए डरैया रही।
दलराम भैन सरकार सुनो, नृप कोऊ न ढाल अड़ैया रही।।

ज़ाहिर है, छोटे शहर के बड़े नाम ने हर आम-ओ-ख़ास को पहचान दी है और गौरवान्वित होने के मौक़े भी दिए हैं। यही बात इस क़स्बाई शहर को अनूठा बनाती है।

लेखक लघुकथाकार और सेवानिवृत्त प्राचार्य हैं। सम्पर्क- 09424111454

खैरागढ़ को याद करते हुए...

*दादी माँ से सुने क़िस्सों वाले पुराने खैरागढ़ में घूमते हुए **संजीव बख्शी** मुलाक़ात कर रहे हैं उन शख़्सियतों से जो खैरागढ़ की विशिष्ट पहचान हैं*

खैरागढ़ के साथ एक बड़ी दिक़्क़त है कि जब भी इसके बारे में लिखना शुरू करता हूँ, ऊहापोह में फँस जाता हूँ, कहाँ से शुरू करूँ! विक्टोरिया हाईस्कूल से, वर्तमान में इसका नाम पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के नाम पर है। अपने एक विद्यार्थी के नाम से अपना नाम पाने वाले इस स्कूल से यदि बात शुरू करूँ, तो दूसरी बातें रह जाएँगी। यही बात कला और संगीत विश्वविद्यालय के साथ भी है, जो राजा के शानदार महल में लगता है। यह भी कि यह महल राजा साहब ने तब इस इस शर्त पर दान में दिया था कि यहाँ कला और संगीत को समर्पित विश्वविद्यालय हो। यह दो गुना महत्व का महापुण्य का कार्य है। मैं जानता हूँ, वैसे भी बहुत-सी ज़रूरी बातें रह जाने वाली हैं, चाहे मैं कितना ही सतर्क होकर लिखूँ। मुझे अभी से माफ़ी माँग लेनी चाहिए। बहुत-सी बातें सुनी हुई हैं... दादी ने बताई थीं। कुछ बचपन की कच्ची बुद्धि से जानी हुईं। बहुत प्रामाणिक होने का कहीं दावा नहीं। खैरागढ़ की बातों में मस्ती भी इतनी है कि कहीं भी फिसल जाने का डर है। इस सबके बावजूद लिखने का हौसला भी तो खैरागढ़ ने ही दिया है। एक कविता के संदर्भ में एक दिन हीरालाल अग्रवाल से एक पत्र पाता हूँ- 'आप अच्छा लिख रहे हैं, लिखते रहें और खैरागढ़ का नाम रोशन करें।' इस पत्र से मुझे खैरागढ़ की आवाज़ आती है।

क्या रुक्खड़ स्वामी से बात शुरू की जाए या राजफेमली, दाऊचौरा, इतवारी बाज़ार से, या बड़े पुल से जो अभी तो छोटा दिखता है, पर जब बना होगा, सबसे बड़ा रहा होगा। चूना, गोंद, बेल और न जाने क्या-क्या मिलाकर तब बनाते थे गारा।

तय कर लेता हूँ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी से। तब ही सामने आ जाते हैं कुछ ज़रूरी चेहरे और साथ ही पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का आदेश कि 'भैया इन्हें मत भूलना'। मास्टर जी का

इशारा मन ही मन मूब जी, भुनू दर्जी, बुतकँवर बरेठ, गुहा और उसका लाल रंग का तंदुरुस्त घोड़ा जो जालबाँधा बाज़ार जाने के लिए तैयार रहता, जैसे चरित्रों की ओर है, मुझे ऐसा लगता है। लछ्मन होटल, बलभद्दर होटल को भला कोई कैसे भूल सकता है! वहाँ का रसगुल्ला, मीठा समोसा, मामा सेठ, गोविंद सिंधी, कपूरचंद, हरसेवक, शकूर दर्जी, मल्ले याद आते हैं, वहीं दयाराम जी, शीतोपलादि चूर्ण की पुड़िया बनाते दिखते विजयलाल ओसवाल, टुटकणे, टहनगुरिया, माणिक गुप्ता, शिवकुमार तिवारी... ऐसे चरित्रों की सूची भी है, तो दूसरी ओर हेमदत्त झा, कर्म्हे...।

कभी खैरागढ़ जाइए, पूछिए ये जेलर कौन हैं। यह कोई सामान्य ज्ञान का प्रश्न नहीं, पूछिए डिप्टी इंस्पेक्टर का मकान, या नाज़िर के बारे में कुछ जानेंगे। घनी और सफ़ेद मूँछों वाले एक रुआबदार व्यक्तित्व के ख़ान साब थे, जो स्टेट के ज़माने में जेलर थे। केशव प्रसाद श्रीवास्तव डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल हुआ करते थे, पर मकान अब भी डिप्टी इंस्पेक्टर का मकान कहलाता है। ऐसा लगता है कि ये सब पदनाम न होकर उनके नाम थे। सचमुच, वह समय ही ऐसा था कि सब अपने पद को अपने नाम जैसा मानते।

खैरागढ़ की अपनी एक पहचान यहाँ की छत्तीसगढ़ी बोली में अपनेपन को लेकर है, जो और दूसरे स्थानों से बिलकुल ही अलग है। बस्ती में बोली जाने वाली छत्तीसगढ़ी बोली से राजफेमली में बोली जाने वाली छत्तीसगढ़ी बोली, मीठा में कुछ और मीठा है। राजफेमली एक मोहल्ला है। राजपरिवार से सम्बंधित सारे परिवार के लोग यहाँ रहते हैं। उनका प्यार अनायास झलकता है, जब अपने से छोटों को भांचा सम्बोधित करते हैं। यह एक मीठा शब्द बनकर हरदम उनकी जुबान पर रहता है। 'अइहा' जाने कितनी बार अनजाने ही जुबान पर आ जाता है और मिसरी की तरह घुल जाता है। यह छत्तीसगढ़ी बोली और खैरागढ़ एक-दूसरे के पर्याय हैं। खैरागढ़ में जिन्हें कभी मौक़ा लगा हो दावत खाने का या शादी आदि की पार्टी में जाने का, उनसे जरूर पूछें कि वहाँ मिला अपनत्व और सत्कार उन्हें कैसा लगा और यह भी कि वैसा नॉनवेज जो राजफेमली में खाया, क्या और कहीं खाने को मिला?

राजा बहादुर वीरेंद्र बहादुर, रानी पद्मावती देवी का यह खैरागढ़ है, वहीं विक्टर लल्ला, ज्ञानेन्द्र सिंह, जोधा सिंह, जनार्दन सिंह, विघ्नहरण सिंह, नारायण सिंह, जैशरण सर से लेकर लाल रामकुमार सिंह, रुद्रभूषण सिंह, सिद्धार्थ सिंह... यहाँ स्थान कम है, नाम बहुत! उन सबको शामिल करते हुए उनके स्नेहमयी स्वभाव को प्रणाम करता हूँ।

खैरागढ़ की बात हो तो नदियों का ज़िक्र ज़रूरी है। आमनेर, मुस्का नदियों के नाम हैं। खैरागढ़ चारों ओर से नदियों से घिरा है। बाढ़ आने के अनेक क़िस्से हैं। वहीं यहाँ का ऐतिहासिक फतेह मैदान अनेक मार्मिक क्षणों का साक्षी बना खैरागढ़ की शान बढ़ा रहा है। एक बात जो खैरागढ़ के साथ है कि बात चाहे कहीं से शुरू की जाए, आकर पुराने बस स्टैंड के एक पान ठेले के सामने पहुँच जाती है। अभी-अभी एक अपरिचित व्यक्ति बस से उतरकर पानवाले से पूछता है, 'तुरकारी

पारा में मंजूर भाई का घर किधर है।' पान लगाते-लगाते कहता है पानवाला, 'रुको, मैं किसी को साथ करता हूँ।' वह पुकारता है एक नाम 'भैया घर जावथो का? जरा इनला मंजूर भाई के घर देखाना रहिस हे'। यह खैरागढ़ का चरित्र है, भैया जाते हैं और अपरिचित को घर तक छोड़ आते हैं।

हाफ़ चाय, लेकिन डबल पान एक और पहचान। राजनांदगाँव में एक बार साथ गए मित्र ने पान लेने के बाद दुबारा सुपारी माँगी, तो पानवाला कहता है, 'खैरागढ़ से आए हो क्या?' बहुत बड़ी-बड़ी पहचान के साथ-साथ ऐसी छोटी-छोटी पहचान भी महत्वपूर्ण ढंग से खैरागढ़ के चरित्र में शामिल है।

तब का खैरागढ़ और आज का खैरागढ़, कोई तुलना नहीं। सचमुच इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों ने देश-दुनिया को एक जैसा बना दिया है। सब ओर एक जैसी तरक़्क़ी! खैरागढ़ भी इसके लिए सीना ताने तैयार खड़ा है, पर अपने मूल चरित्र का झंडा लिए हुए। कोई काम-धंधे से बाहर चला भी जाता है, तो अपने साथ-साथ यहाँ की यादें ज़रूर रखता है, यानी थोड़ा खैरागढ़। आज हर हाथ में मोबाइल, हर घर में टीवी है। एक समय था जब खैरागढ़ में सबसे पहले दो रेडियो लाए गए- एक तो राजमहल में और दूसरा बैनलाल बख्शी के यहाँ। सेकंड वर्ल्ड वार की तब न्यूज़ आया करती थी रेडियो पर। न्यूज़ के समय में घर के सामने भीड़ लगती, सामने लाकर रेडियो रखा जाता और लोग देखते विज्ञान के इस चमत्कार को, सुनते दुनिया की सबसे बड़ी ख़बरें। घर में एक परछी का नाम 'रेडियो वाली परछी' है। बचपन में पूछने पर दादी यह पूरी कहानी विस्तार से बताती थी कि इसका यह नाम क्यों पड़ा। बैनलाल बख्शी इस पूरे क्षेत्र के पहले एलएलबी थे और इस कारण उन्हें राजरत्न की उपाधि से सम्मानित किया गया। 'कहि देबे संदेश' पहली छत्तीसगढ़ी फिल्म में प्रमुख रोल में रमाकांत बख्शी थे, वे बैनलाल बख्शी के पुत्र थे और मेरे पिता।

दाऊचौरा में एक खैरागढ़ रहता है। यह इसलिए, क्योंकि वहाँ गए बिना खैरागढ़ की यात्रा पूरी नहीं होती। कम-से-कम उसकी तो बिलकुल भी नहीं, जो साहित्य के लिए ईमानदारी से कुछ कर रहा है। यहाँ गोरेलाल चंदेल और जीवन यदु राही रहते हैं। रमाकांत श्रीवास्तव भी रहते थे, जो कुछ अरसा पहले ही भोपाल जा बसे हैं।

दंतेश्वरी माई जी का मंदिर, शिव मंदिर, रुक्खड़ स्वामी का मंदिर, बम्बईबाज का मंदिर श्रद्धा के केंद्र में हैं। सुबह मुँह अंधेरे भजन गाते जब निकलती है एक टोली और शहर के बीचोबीच स्थित मस्जिद से अजान की आवाज़ आती है, तो सचमुच एक नए दिन की शुरुआत की अनुभूति होती है। रुक्खड़ स्वामी मंदिर की चर्चा करते हुए उसके बारे में थोड़ी जानकारी देना भी ज़रूरी है। यह राजफेमली के एरिया में स्थित है। यहाँ अखंड धूनी आज भी जल रही है। कहते हैं, इस स्थान पर बरसों पहले एक संत आकर कुछ दिन से रुके थे। राजा साहब उनसे मिलना चाहते थे। ख़बर आई, तब संत बुख़ार की हालत में थे। उन्होंने अपना बुख़ार एक कम्बल को दे दिया, वह कम्बल काँपने लगा। संत जी राजा से मिलकर आए और जब वे खैरागढ़ से जाने लगे, तो जहाँ रुके थे उस स्थान

पर एक चिमटी भभूत रखकर गए। यही भभूत अपने आप धीरे-धीरे बढ़ता हुआ पूरे कमरे में फैल गया है। एक समिति इस मंदिर की देखरेख करती है।

खैरागढ़ की बसाहट की यह ख़ासियत है कि सोनार पारा, बरेठपारा, कुम्हार पारा, सिविल लाइंस, राजफेमली... ये अलग-अलग बसाहट में हैं- बीचोबीच गोल बाज़ार है, जहाँ प्रतिदिन का बाज़ार भरता था। इतवारी बाज़ार में केवल इतवार को बाज़ार भरता था, अब प्रतिदिन पसरा लगता है। दशहरा पर्व काफ़ी उत्साह के साथ मनाया जाता रहा है। पहले राजा साहब की बड़ी लम्बी, गरिमामय सवारी निकलती थी। मशाल लिए लोगों का जुलूस, फिर हाथी सजेधजे, उसके पीछे पुलिस बैंड, घोड़ों की क़तार और तब राजा साहब की सवारी। उत्साह अब भी बरक़रार है। काफ़ी ज़ोर-शोर के साथ दशहरा मनाया जाता है ।

खैरागढ़ को सीताफल, खेढ़ा भाजी, चेंज भाजी आदि के लिए लोग दूर-दूर तक जानते हैं। मटिया का नाम मुझे याद है, जो सीताफल, खेढ़ा भाजी आदि लेकर घर-घर जाती थी। ख़रीद-बिक्री के बाद पास की दीवार पर लाल भाजी से निशान बना देती। इन्हें देखकर लगता कि ये सिर्फ़ हिसाब के निशान नहीं, बल्कि ये विश्वास और ईमानदारी के निशान थे। काफ़ी पहले यहाँ खैर के जंगल हुआ करते थे, जिससे खैरागढ़ का नामकरण हुआ। पर आज कहीं एक भी खैर का वृक्ष नहीं है। यहाँ काफ़ी पहले से नल-बिजली की व्यवस्था है। आसपास के स्टेट में यह व्यवस्था बहुत बाद में हुई।

खैरागढ़ के बारे में इतना कुछ लिखते यह महसूस हो रहा है कि सिर्फ़ प्रस्तावना ही लिखा गया है, काफ़ी कुछ लिखा जाना है। अभी और बिल्कुल अभी का खैरागढ़, जो कि और भी महत्वपूर्ण है निखरे हुए चरित्र के साथ, उसके बारे में लिखा जाना बचा है। बचा हुआ है बहुत कुछ मास्टर जी पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के बारे में लिखा जाना, जिनकी यह जन्मस्थली है। बख्शी भवन, जहाँ सूर्यकांत बख्शी बड़े भैया निवास करते हैं। उससे लगे हुए मकान में उनका जन्म हुआ था। यह अवश्य ही एक संरक्षित स्थान के रूप में विकसित होगा और देश के नक़्शे में चिह्नित किया जाएगा। यही वह स्थान है, जहाँ छह-सात पीढ़ी पहले की बात है, कहते हैं काँवरिया का रूप धरकर श्रीकृष्ण आए थे।

बहरहाल, अपनी जेब में एक अलग पहचान रखने वाला खैरागढ़ आज के आपाधापी के समय में अपनत्व, सादगी जैसे कठिन चरित्र को अपना मूल स्वभाव बनाए हुए है, यह अपने आप में महत्वपूर्ण है।

लेखक प्रसिद्ध साहित्यकार और पूर्व प्रशासनिक अधिकारी हैं। सम्पर्क- 09981874114

जैसे इतिहास से गुज़रना

***कमलकांत पांडेय** के संस्मरण में घटना-प्रसंगों के साथ जो क़िरदार आते हैं, उन्होंने खैरागढ़ की राजनीति और वकालत को ऊँचाइयाँ दी हैं*

एक धुंधला-सा चित्र उभरता है। बात 1957 के आसपास की है, गाँव में जन्म लेकर पला लड़का पहली बार खैरागढ़ आया। साथ में उसके पिता, बड़े भाई तथा नानी थीं। पिता ने खैरागढ़ में बच्चों की पढ़ाई के उद्‌देश्य से एक मिट्‌टी का मकान ख़रीदा था। साफ़-सफ़ाई के बाद बच्चा, उसकी नानी तथा बड़े भाई वहीं रह रहे थे। बड़े भाई उस बच्चे से क़रीब 10 वर्ष बड़े थे तथा दसवीं कक्षा में पढ़ते थे। पिता ने प्राथमिक शाला में बच्चे को भर्ती करा दिया। तब बच्चे ने पहली बार स्कूल देखा।

वह बच्चा मैं था। हेडमास्टर साहब की हल्की याद है। ऊँचा-पूरा शरीर, खिचड़ी दाढ़ी, सिर पर टोपी। मुझ पर कुछ अधिक स्नेह रखते। पढ़ाई तथा अनुशासन में उतने ही सख़्त। उन्होंने सभी बच्चों को गृहकार्य दिया था। मैं भूल गया। गाँव से कुछ लोग आए थे, उन्हीं के साथ घूमने-फिरने में लग गया। हेडमास्टर साहब सबकी स्लेट जाँचने लगे। मेरा भी नम्बर आया, मेरी स्लेट बिल्कुल साफ़ थी। पता नहीं क्यों, उस समय उन्होंने मुझसे कुछ नहीं कहा, जबकि होमवर्क न करने वाले अन्य बच्चों की पिटाई की गई। कारण शायद यह था कि बाक़ी बच्चे बड़े और मज़बूत शरीर के थे। थोड़ी देर बाद मुझे चपरासी बुलाकर हेडमास्टर के पास ले गया। मेरी तो डर के कारण घिग्घी बंधी हुई थी। डरते-डरते सिर झुकाकर खड़ा रहा। हेडमास्टर साहब धीरे से बोले, 'तुम्हारे पिता मेरे मित्र हैं। वे इतने मेहनती हैं और तुम कामचोर!' मैं ख़ामोश रहा। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा कि तुम्हें आज और कल, दोनों दिनों का गृहकार्य करके कल लाना है, नहीं तो दोनों दिनों की पिटाई एक साथ होगी। घर आकर मैं सीधे ही पढ़ने बैठ गया। नानी कहती रहीं कि हाथ-मुँह धो ले फिर बैठना, पर मैं नहीं उठा। खाने का समय हो गया, नानी कहती रहीं कि खाना खा ले, पर मैंने मना कर दिया-

'पहले काम कर लूँ फिर खाऊँगा।' ...बाद में मैं कक्षा में प्रथम आया। जीवन के 63 वें वर्ष में आज जब उन्हें याद कर रहा हूँ, तो नहीं जानता कि वे जीवित भी होंगे या नहीं, सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि मुझे अध्ययन की ओर मोड़ने की पहली मनोवैज्ञानिक कोशिश उन्होंने ही की थी।

पाँचवीं कक्षा प्राथमिक शाला क्रमांक एक से उत्तीर्ण करने के बाद, मुझे विक्टोरिया स्कूल के मिडिल सेक्शन में दाख़िला मिला। उस समय के अध्यापकों में सतीशचंद्र झा, जो उसी समय किसी अन्य स्कूल से स्थानांतरित होकर आए थे, से प्रथम परिचय हुआ। मेरे बाजू में बैठा विद्यार्थी अँग्रेज़ी के कालखंड में कॉपी में चश्मा लगाए एक मोटे व्यक्ति के रूप में मास्टर जी का चित्र बना रहा था, जिसे उन्होंने देख लिया। उस बच्चे से पूछा कि ड्रॉइंग करते हो? बच्चे ने कहा, 'हाँ।' दूसरे दिन मास्टर जी ने उस बच्चे को ड्रॉइंगशीट, पेंसिल और रबर दी। मास्टर जी हिन्दी भी पढ़ाते थे। उनका पढ़ाने का तरीक़ा ऐसा था कि लड़के मंत्रमुग्ध हो जाते थे। उनके पढ़ाने के ढंग को लड़के कितना पसंद करते थे, इसका अंदाज़ा एक तथ्य से लगा सकते हैं। तब दो ट्यूशन (कोचिंग) क्लास भी चलती थीं, जिनमें से एक तो वही चलाते थे और दूसरी क्लास स्कूल के हेडमास्टर साहब लेते थे। ज़ाहिर है कि जो लड़के हेडमास्टर से पढ़ते, उन्हें ज़्यादा लाभ होता, स्कूल में भी और बाद में होने वाली वार्षिक परीक्षाओं में भी। लेकिन ठीक से याद है कि झा साहब की कोचिंग में छात्रों की संख्या अधिक होती थी।

मास्टर जी का पुत्र आनंद झा भी हमारी कक्षा में पढ़ता था। बड़े शहर के स्कूल में पढ़कर आया था। ऊपर से मास्टर जी का अनुशासन! पढ़ने में तेज़ था। प्रारम्भिक दिनों में मैं पढ़ाई में उसकी बराबरी करने की चेष्टा करता तथा प्रतिस्पर्धात्मक ईर्ष्या भी रखता था। बाद में उससे मेरी मित्रता हो गई। उन दिनों हमारे घर में बिजली नहीं थी। कंदील की रोशनी में पढ़ना पड़ता था। जब यह बात मास्टर जी को पता चली, तो उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि तुम हमारे घर आकर आनंद के साथ बैठकर पढ़ सकते हो। उनका पक्का, बंगलानुमा मकान गोलबाज़ार से इतवारी बाज़ार को जोड़ने वाली सड़क पर था। सामने अहाते के किनारे गेट के बाजू में चमेली और रातरानी की बेलें लगी थीं। मैं आनंद के साथ पहली बार उसके घर गया। घर में उसकी माता जी सुनंदा झा तथा एक छोटी बहन अर्चना से मुलाक़ात हुई। मास्टरजी की धर्मपत्नी भी प्राथमिक शाला में शिक्षिका थीं। ममतामयी, कर्मठ एवं धर्मपरायण। मैं बाद में उनका भी कृपापात्र रहा। स्कूल के बाद मेरा अधिकांश समय आनंद के साथ ही बीतता रहा। मेरी माँ दूर गाँव में रहती थीं, जिनकी कमी आनंद की माता जी ने अपने स्नेह और दुलार से पूरी कर दी थी।

हमारे एक शिक्षक रमाकांत बख्शी मंच के बड़े कलाकार थे। शाला के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में उनकी तूती बोलती थी। बाद में छत्तीसगढ़ी फीचर फिल्म 'कहि देबे संदेश' में उन्होंने एक प्रमुख क़िरदार निभाया। बख्शी जी ने एक दिन मुझे बुलाकर पूछा, 'नाटक में काम करोगे?' मैं स्वभाव से संकोची होने के कारण चुप ही रहा। उन्होंने शाम को स्कूल आने के लिए कहा। मैं आनंद झा के साथ शाम को फिर स्कूल गया। मैंने उस वर्ष वार्षिक स्नेह सम्मेलन में मुंशी प्रेमचंद के गोदान

उपन्यास पर आधारित नाटक में अभिनय किया, जिसे बख्शी जी ने नाटक के रूप में ढाला था। बाद में आनंद झा तथा एक अन्य मित्र पारसमल जैन के साथ मिलकर शहर में गणेशोत्सव, दुर्गोत्सव तथा अन्य शालाओं के स्नेह सम्मेलन में अनेक नाटक प्रस्तुत किए। इन्हीं सब क्रियाकलापों के कारण शायद विक्टोरिया हाईस्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ाने वाले के.डी. झा मास्साब ने मुझे कभी पीटा नहीं, जबकि और लड़के यह 'प्रसाद' अक्सर पाते रहते थे। दबंग व्यक्तित्व तथा तेज़ स्वभाव था उनका। शायद इसीलिए उन्हें एनसीसी का प्रभारी भी बनाया गया था, ताकि लड़के अनुशासन में रहें। मगर दिल के बहुत अच्छे थे। इनके अलावा हाईस्कूल में फड़नवीस सर हिन्दी की कक्षाएँ लेते थे। वे 'पंचवटी' पढ़ाते समय शूर्पणखा के वर्णन में 'कटि के नीचे चिकुरजाल में...' की व्याख्या बड़ा रस लेकर किया करते थे।

उन दिनों खैरागढ़ कन्या हाईस्कूल के विज्ञान विषयों में लड़के तथा लड़कियाँ साथ ही पढ़ते थे। विज्ञान के अध्यापकों में जो प्रमुख रूप से यादों में जुड़े हैं, वे हैं अग्रवाल सर, आर.बी. पांडेय सर तथा सदावर्ते सर। अग्रवाल सर अधिक बोलते नहीं थे। वे जीवविज्ञान पढ़ाते थे, कभी-कभी गणित की कक्षाएँ भी लेते थे। समीकरण को हल करने का सरल उपाय क्या होगा, इसकी वे अच्छी व्याख्या करते थे। आर.बी. पांडेय फिजिक्स तथा गणित पढ़ाते थे। वे फुटबाल के बहुत अच्छे खिलाड़ी भी थे। सदावर्ते सर कैमिस्ट्री पढ़ाते थे। उनके बारे में सुनते थे कि छात्र जीवन में उन्हें किसी विषय में सप्लीमेंट्री आई थी, परंतु वे पढ़ाते इतना अच्छा थे कि एमएससी का टॉपर भी शायद उतना अच्छा न पढ़ा सके। मैट्रिक के बाद कॉलेज की पढ़ाई के लिए मैं राजनांदगाँव चला गया।

कॉलेज के साथियों में कृष्णकांत बख्शी बाद में मध्यप्रदेश शासन के उद्योग विभाग में जनरल मैनेजर के पद तक पहुँचे। अमृत चोपड़ा ने रायपुर में नगर निगम के आयुक्त पद को सुशोभित किया। मोहम्मद मोबिन ख़ान, विमल जैन, भागचंद जैन, घनश्याम रकटाटे एवं महेश ठाकुर का भी मुझे साथ मिला। हिन्दी साहित्य में एम.ए के दौरान मेरे अभिन्न मित्र सीताराम यादव जिसे मैं बल्लू के उपनाम से बुलाता था, ने पत्रकारिता के क्षेत्र में संजय यादव के नाम से ख्याति अर्जित की। उन्होंने ही हिन्दी साहित्य में मेरी रुचि जगाई।

वकालत की परीक्षा पास कर खैरागढ़ वापस आया। उन दिनों यहाँ रामकृष्ण टुटकणे, राजेंद्रलाल टहनगुरिया, विजयलाल ओसवाल (जो खैरागढ़ के विधायक भी रहे), भगवती सिंह ठाकुर, गुलाबचंद जैन तथा रामकृष्ण तिवारी जैसे अधिवक्ताओं की तूती बोलती थी। खैरागढ़ के वकीलों का नाम पुराने दुर्ग ज़िले तथा वर्तमान में राजनांदगांव ज़िले में बड़े सम्मान से लिया जाता था। वर्ष 1977 में आपातकाल के बाद जो चुनाव हुए, उसमें वकील माणिकलाल गुप्ता खैरागढ़ विधानसभा के विधायक चुने गए तथा बाद में मध्यप्रदेश राज्य परिवहन निगम के उपाध्यक्ष भी बने। मेरा शैशवकाल कह सकते हैं। रामकृष्ण तिवारी मेरे बड़े भाई रमाकांत पांडेय के अभिन्न मित्र थे। उनकी सलाह पर मैं राजेंद्रलाल टहनगुरिया के ऑफिस में जूनियर अधिवक्ता के रूप में काम सीखने

लगा। शुरुआती दिनों में काम कुछ रहता नहीं था। परिचय का दायरा बिल्कुल सीमित था। शाम को कॉलेज के दिनों के सभी मित्रों का जमघट पुराने बस स्टैण्ड स्थित उमेंद श्रीवास के हेयर कटिंग सैलून में होता था। उमेंद को हम लोग कल्लू भाई के घरेलू नाम से बुलाते थे। उन्हीं की बग़ल में लाला भाई का सैलून था। उनका पूरा नाम बनवाली श्रीवास है। सभी लोग उन्हें नेता जी के नाम से पुकारते थे। लाला भाई सोशलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता थे। वे इंदिरा गांधी को हराने वाले राजनारायण, राजनांदगाँव के सांसद रहे मदन तिवारी, मोतीलाल वोरा, विद्याभूषण ठाकुर, ठाकुर दरबार सिंह, माणिकलाल गुप्ता, नोताराम चंदवानी आदि के पुराने क़िस्से बड़े दिलचस्प ढंग से सुनाते थे। एक दिन इसी गपबाज़ी के दौर में बात उठी कि हम लोग मिलकर खैरागढ़ में कवि सम्मेलन क्यों नहीं करा सकते। लाला भाई ने आनन-फानन में तुरकारी पारा समिति का गठन कर मुझे अध्यक्ष बना दिया। कल्लू भाई उपाध्यक्ष, भरत श्रीवास्तव सचिव और संतोष गुप्ता कोषाध्यक्ष बने। लाला भाई संरक्षक थे और कार्यकारिणी में कृष्णकान्त बख्शी, मंजूर अहमद ख़ान, डॉ. अरुण टहनगुरिया, अनुज गुप्ता तथा घनश्याम रकटाटे को रखा गया। अगले वर्ष गणेशोत्सव के दौरान मोहल्ले में संतोष गुप्ता के घर के सामने स्थित शिवमंदिर प्रांगण के चबूतरे पर अरुण सेन ने 'गीत रामायण' की प्रस्तुति दी। श्री सेन तब विश्वविद्यालय के कुलपति थे।

उन दिनों दैनिक देशबंध तथा दैनिक सबेरा संकेत की एजेंसी भीखमचंद लूनिया के पास थी। वे बाद में बापजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके घर में माता जी की थान की स्थापना है, जिसमें देश के कोने-कोने से लोग कष्ट निवारण के लिए आते हैं। समाचारों के लेखन में साहित्यकार-शिक्षक बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु' उनकी मदद करते थे। समिति के कार्यक्रमों के समाचार देने के क्रम में 'गुरु' से परिचय हुआ। वे भी समिति से जुड़ गए। उनकी रचनाशीलता तथा गहरी सोच हमारी समिति के कार्यक्रमों की उत्कृष्टता बढ़ाने में विशेष उपयोगी सिद्ध हुई। उनसे मेरी गहरी मित्रता हो गई। बाद में उन्हीं की सलाह से मैं दैनिक देशबंधु का संवाददाता बना। काम के सिलसिले में नवभारत के स्थायी संवाददाता लाल दुलेश्वर सिंह से मेरा परिचय हुआ। उनका मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन मुझे हमेशा मिला। एक समय के बाद मैं अपने मूल पेशे- वकालत में ही रम गया। अधिवक्ता संघ का सचिव भी चुना गया।

बात सन् 1983 की है। मध्यप्रदेश शासन द्वारा जगह-जगह महाविद्यालय खोले जा रहे थे, परंतु सूची में खैरागढ़ का नाम नहीं था। उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में छपा कि खैरागढ़ वनमंडल की स्थापना हुई है, परंतु उसका कार्यालय राजनांदगाँव में रखा गया है। लोग इसका विरोध करने लगे। अधिवक्ता संघ खैरागढ़ के संयोजन में नागरिक समिति का गठन हुआ। उस समय अधिवक्ता संघ के अध्यक्ष माणिकलाल गुप्ता तथा उपाध्यक्ष अजय ओसवाल थे। मुझे सचिव होने के कारण नागरिक समिति का संयोजक बनाया गया। नागरिक समिति में राजनीतिज्ञ भी शामिल हो गए। धरना प्रदर्शन, भूख हड़ताल, मौन जुलूस आदि का सिलसिला चला। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता रामसहाय अग्रवाल,

मणिलाल अग्रवाल व सिद्धार्थ सिंह के मार्गदर्शन में आंदोलन क़रीब एक पखवाड़े तक चला, परंतु शासन-प्रशासन ने कोई पहल नहीं की। तब नागरिक समिति ने अनिश्चितकालीन चक्काजाम का निर्णय लिया। एक दिन तक प्रशासन ख़ामोश रहा, पर दूसरे दिन खैरागढ़ को पुलिस छावनी में तब्दील कर दिया गया। धारा 144 लगा दी गई। हर गली-मोहल्ले में पुलिस ही पुलिस दिखाई देने लगी। बावजूद इसके आंदोलन थमा नहीं। लाठी चार्ज और हवाई फायर भी हुआ। माणिक गुप्ता, बिल्लू श्रीवास सहित कई लोगों को गम्भीर चोटें आईं। अंततः प्रशासन ने बातचीत के लिए समिति के पदाधिकारियों को बुलाया।

पुलिस थाने के सामने के मैदान का वह मंज़र मुझे अब तक याद है। एक तरफ़ पुलिस के जवान बंदूकों से लैस, तो दूसरी तरफ आक्रोशित नागरिक। डीएसपी ने कड़ककर कहा कि एक भी पत्थर इधर फेंका गया, तो मैं फायरिंग का आदेश दे दूंगा। उधर लाठी चार्ज की वजह से लोग ग़ुस्से से भरे थे। बीच में हम। खैरागढ़ में एसडीएम श्री त्रिवेदी ने मुझे तथा अजय ओसवाल को बुलाकर कहा कि आंदोलन शिथिल करने का आश्वासन दीजिए, ताकि आपकी मांगों पर ग़ौर किया जा सके। शासन ने संघर्ष समिति की कुछ मांगों को मंजूर किया। खैरागढ़ में शासकीय महाविद्यालय खोला गया। वनमंडल का कार्यालय खैरागढ़ में ही रखा गया। सिंचाई तथा लोकनिर्माण विभाग के सम्भागीय कार्यालयों की स्थापना हुई।

इसी आंदोलन के दौरान लाला भाई ने विधायक रानी रश्मिदेवी सिंह से मेरा परिचय कराया। वे सौम्य व्यक्तित्व तथा विनम्र व्यवहार की धनी थीं। आंदोलन के दौरान ही सिद्धार्थ सिंह से मेरा परिचय हुआ। ऊँचे-पूरे दबंग व्यक्तित्व के धनी, जिनकी आँखें सामने वाले के भीतर तक झाँककर उसकी थाह पा जातीं। धीरे-धीरे उनसे परिचय प्रगाढ़ हुआ। रानी साहिबा के वे राजनैतिक सलाहकार थे। मैं तब तक राजनीति में रुचि नहीं रखता था। सिद्धार्थ सिंह के सान्निध्य में मुझे राजनीति में थोड़ी रुचि उत्पन्न हुई। वे उच्च मापदंडों को मानने वाले हैं। उनकी कथनी व करनी में भेद नहीं होता है। मेरे राजनैतिक गुरु के रूप में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है, परंतु मैं उनका सबसे कमज़ोर विद्यार्थी साबित हुआ। फिर भी वे मुझे किसी तरह कृपोत्तीर्ण करवाते रहे। उनके निकटस्थ में रत्नेश सिंह जो उनके चचेरे भाई हैं, लक्ष्मण बहादुर सिंह तथा लाला भाई रहे हैं। इन्हीं सबके सहयोग से मुझे खैरागढ़ विपणन संघ संचालक तथा बाद में ज़िला केंद्रीय सहकारी बैंक राजनांदगाँव का संचालक पद प्राप्त हुआ। बैंक संचालक के चुनाव में पं. नरेशदत्त झा तथा उनके सुपुत्र अधिवक्ता मिहिर झा का विशेष सम्बल मिला। मुझे वह घटना याद आती है, जब मेरे एक समर्थक मतदाता को विपक्षियों द्वारा फुसलाकर ले जाया जा रहा था, तब नरेश दत्त जी ने बीच रास्ते पर खड़े होकर उनकी जीप रुकवाई और उस मतदाता से पूछा कि तुम्हें इनके साथ रहना है या हमारे साथ। और वह चुपचाप विपक्षी गाड़ी से उतरकर हमारी गाड़ी में आकर बैठ गया। ज़ाहिर है, झा जी का अपने क्षेत्र में काफ़ी प्रभाव रहा है।

प्रगतिशील लेखक संघ के पुरोधा डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव, डॉ. गोरेलाल चंदेल, डॉ. जीवन यदु राही, हीरालाल अग्रवाल तथा अशोक देवांगन ने मेरे जैसे गैर-साहित्यिक को भी पाठक मंच के माध्यम से अपने साथ जोड़ा। इनसे परिचय मेरे घनिष्ठ मित्र, अधिवक्ता सहायकलाल चंदेल ने कराया। सहायकलाल जी कॉलेज के दिनों में रेसलर रहे हैं। उनके बारे में कहा जाता था कि सांड को पूँछ पकड़कर खींचकर बिठा देते थे। पाठक मंच की बैठक में पेशे से चिकित्सक प्रशांत झा और वकील तीरथ चंदेल भी आते थे।

अधिवक्ता संघ में मेरे सचिव रहते ही खैरागढ़ में अतिरिक्त ज़िला एवं सत्र न्यायाधीश के न्यायालय की स्थापना हुई तथा सिद्धार्थ सिंह एवं रानी साहिबा की अनुशंसा से मुझे प्रथम शासकीय अभिभाषक होने का गौरव प्राप्त हुआ। वकालत के क्षेत्र में राजेंद्रलाल टहनगुरिया, विजयलाल ओसवाल, रामकृष्ण तिवारी, बड़े भाई रमाकांत जी, रामकृष्ण टुटकणे, गुलाबचंद जैन मेरे गुरु और मार्गदर्शक रहे हैं। भगवती सिंह, सुभाष सिंह, अजय ओसवाल, गौतमचंद जैन, शत्रुघ्न सिंह ठाकुर आदि का मुझ पर विशेष स्नेह रहा है। इन्हीं सबके आशीर्वाद और स्नेह ने मुझे अधिवक्ता संघ के अध्यक्ष पद तक पहुँचाया।

रानी साहिबा के असामयिक स्वर्गवास के बाद उपचुनाव में उनके सुपुत्र युवराज देवव्रत सिंह विधायक चुने गए। उन्हीं दिनों पंचायतों का नया परिसीमन होकर चुनाव की घोषणा हुई। नामांकन आरम्भ हुए, तो मुझे संदेश मिला कि जनपद कार्यालय में बुलाया गया है। मैं कचहरी का कार्य निबटाकर जनपद कार्यालय पहुँचा। वहाँ पर देवव्रत सिंह, सिद्धार्थ भाई तथा लछ्मन काका बैठे थे। सिद्धार्थ भाई ने कहा कि जनपद अध्यक्ष का पद आदिवासी महिला के लिए आरक्षित है। हम लोग चाहते हैं कि जनपद उपाध्यक्ष के लिए आप चुनाव लड़ें। नामांकन के बाद हालाँकि निर्वाचन प्रक्रिया रोक दी गई, क्योंकि लोकसभा चुनावों की घोषणा हो गई थी। इसके बाद पंचायत चुनाव की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हुई, परंतु तब तक खैरागढ़ का राजनैतिक परिदृश्य बदल चुका था। सिद्धार्थ भाई के साले साहब डॉ. रमन सिंह भारतीय जनता पार्टी से राजनांदगाँव संसदीय क्षेत्र से निर्वाचित हो चुके थे तथा सिद्धार्थ सिंह कांग्रेस पार्टी छोड़कर भाजपा में शामिल हो गए थे। बहरहाल, पंचायत चुनाव पार्टी आधारित नहीं होते हैं, सो सबके सहयोग से मैं निर्विरोध जनपद सदस्य तथा उपाध्यक्ष बना।

पुरानी खैरागढ़ तहसील के विभाजन से तीन तहसीलें बन गई हैं। खैरागढ़ एक समय प्रदेश की बड़ी तहसीलों में एक रहा है। मन के भीतर कहीं यह टीस अवश्य है कि लगभग सभी बड़ी तहसीलों को ज़िले का दर्जा प्राप्त हो गया है, परंतु खैरागढ़ आज भी बाट जोह रहा है। आज खैरागढ़ की राजनीति युवा एवं मज़बूत कंधों पर है। मुझे भरोसा है, नई सुबह होगी और छत्तीसगढ़ के नक़्शे में खैरागढ़ ज़िले के रूप में प्रतिस्थापित होगा।

लेखक वरिष्ठ अधिवक्ता, राजनीतिज्ञ और समाजसेवी हैं। सम्पर्क- 09425565949

जगहों में जगह खैरागढ़

***डॉ. नलिनी श्रीवास्तव** के अनुभवों में उनके दादाजी के अनुभव भी शामिल हैं, जिनका खैरागढ़ के प्रति लगाव अप्रिय प्रसंगों के बावजूद रत्तीभर भी कम न हुआ था*

कहा जाता है कि किसी कुल में जन्म लेना दैवायत्त है। यह मेरे लिए सचमुच गौरव की बात है कि दैव ने मुझे बख्शी कुल में जन्म दिया। मैं हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार डॉ. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी के ज्येष्ठ पुत्र महेन्द्र कुमार बख्शी की ज्येष्ठ पुत्री हूँ। यह भी मेरा सौभाग्य है कि मैं सदैव अपने दादाजी के पास रही। यही कारण है कि साहित्य के प्रति मेरी अभिरुचि जाग्रत होती रही। मेरे दादाजी का जीवन सदैव साहित्यिक रहा है और घर में भी एक साहित्यिक वातावरण मैंने सदैव पाया है। दादाजी के प्रपितामह उमराव बख्शी और पितामह के छोटे भाई कुन्दूबाबू तथा पिता पुन्नालाल बख्शी सभी कवि थे। कुन्दू बाबू के कोई पुत्र नहीं था, इसी से वे दादा जी को बचपन में अपनी लिखी कविताएँ सुनाया करते थे। पितामह उमराव बख्शी की 'जानकी पंचाशिका' नाम की रचना लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित भी हुई थी। उमराव बख्शी की 'पंच देवाष्टक' कविता और पिता पुन्नालाल बख्शी की कहानी बेलडियर प्रेस से निकलने वाली 'मनोरमा' में दादाजी ने प्रकाशित करवाई थी। मेरे पिता महेन्द्र कुमार बख्शी और चाचा देवेन्द्र कुमार बख्शी दोनों बचपन से ही कविताएँ और लेख लिखते रहे हैं। कितनी ही पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ प्रकाशित भी हुई हैं। मेरे दादाजी के सभी परिचित व्यक्ति साहित्य अनुरागी रहते थे। घर में उनसे मिलने के लिए कितने ही साहित्यिक आया करते थे। सुनती हूँ, सुभद्रा कुमारी चौहान भी घर आई थीं।

दादाजी को अपने जन्म स्थान खैरागढ़ से बड़ा स्नेह था। 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' को उन्होंने चरितार्थ कर दिखाया। खैरागढ़ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ओर तो रियासत की राजधानी होने के कारण उसमें नगर का वैभव आ गया है और दूसरी ओर उसमें

ग्राम्य जीवन की सच्ची सरलता भी विद्यमान है। दादाजी ने लिखा है- 'खैरागढ़ में मैंने सदैव ग्राम की अपूर्व श्री का अनुभव किया। नगर के कोलाहल और आदमियों की भीड़ में जो जीवन की व्यस्तता देखी जाती है, उसका यहाँ अभाव ही रहा है। यहाँ जीवन की गति सदैव मंद रही है। ऊपर अनंत नीलाकाश, नीचे हरे-भरे खेत, इनके बीच में खैरागढ़ का वह ग्राम अनायास ही मन के भीतर एक अपूर्व रहस्यमय सौंदर्य की सृष्टि कर देता है। तब यह प्रतीत होता है कि जीवन की सार्थकता, धन, ख्याति, प्रशंसा के उपयोग में नहीं है। हम लोग प्रकृति के संसर्ग में रहकर विशुद्ध आनंद के लिए यथेष्ट भाव ग्रहण कर लेते हैं।'

मेरे दादाजी का जन्म 27 मई, सन् 1894 को खैरागढ़ में हुआ। ज्येष्ठ शुक्ल द्वादशी को उनकी जन्मतिथि है। तिथि का ही विचार कर हम लोग उनका जन्म दिवस मनाते आए हैं। उनका नाम तो पदुमलाल है, पर वे अपने नाम के साथ पिता का और कुल का नाम भी लिखते हैं। छत्तीसगढ़ में कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ अपने पिता का नाम नहीं लिखता। मैंने जब उनसे पूछा कि आप क्यों अपने नाम के साथ अपने पिता का नाम लिखने लगे, तब उन्होंने बतलाया कि अपने हेडमास्टर एन.ए. गुलाम अली के निर्देश से जब वे मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में बैठने लगे, तब आवेदन पत्र में उन्होंने यही नाम लिखा। तब से बराबर अपने इसी नाम को लिखने लगे।

साहित्य मर्मज्ञों का कथन है कि अपने सच्चे भावों को सच्चे रूप में प्रकट करने के लिए रचना की उतनी कुशलता नहीं चाहिए, जितनी सत्साहस की और इसका सबसे बड़ा गुण है आत्मपरीक्षा। दादाजी इसी परीक्षा की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरे उतरे। उन्होंने अपना आत्मचरित्र तो नहीं लिखा, परंतु अपने व्यक्तिगत जीवन, अपने ग्राम खैरागढ़ और खैरागढ़ के लोगों की असाधारणता पर मुग्ध होकर विशुद्ध आनंद के भावों में बहकर अपनी प्रभावशालिनी लेखनी के द्वारा उन्हें साहित्य जगत के अमर पात्र बना गए। चाहे वे बचपन के साथी गजराज बाबू हों या गोपीचंद। उनके परम पूज्य गुरु शम्भूगिरि महाराज हों या काशीदत्त पंडित हों या उनके प्रणेता प्रद्युम्नसिंह या सूरजमल हों। इतना ही नहीं, कथा-साहित्य के कल्पित पात्रों में भी इतना खो जाते कि दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि खैरागढ़ में उन्होंने देखा कि सम्पत्ति के बंटवारे का प्रश्न आने पर पिता और पुत्र तथा माता और पुत्र में भी घोर विद्वेष हो गया, पर न कोई 'बैकुंठ मजुमदार' मिला न 'गोकुल' मिला और न 'भवानी' मिली। खैरागढ़ में उन्होंने वासना, विद्वेष, लोभ, कपट की तो कितनी ही लीलाएँ देखीं पर दुश्चरित्र में उन्हें कोई 'विनोद' नहीं मिला। दादाजी के दोनों पुत्र खैरागढ़ में ही रहते थे। घर निकल जाने के कारण वे दोनों अलग-अलग हो गए। मेरे पिताजी को तो कुछ दिनों तक बड़े कष्ट के साथ लाइब्रेरी के एक कमरे में ही रहना पड़ा। वह समय सचमुच हम लोगों के लिए बड़ा संकटकाल था। खैरागढ़ में दादाजी को भी लाइब्रेरी में सोना पड़ा।

खैरागढ़ में जब कभी राजनांदगाँव से छुटटी के दिनों मेरे दादाजी आते थे, तब उनका कहना था कि वे साहित्य जगत के साथ शिक्षक जगत से भी पृथक हो जाते हैं। अब राजनांदगाँव उनके

लिए कार्यस्थल था। यही कारण है कि खैरागढ़ में आते ही वे समस्त कार्यभार से मुक्त होकर जीवन के विशुद्ध आनंद का अनुभव करते थे। उनमें न तो साहित्य की विभूति के प्रति आर्कषण होता और न ज्ञान के गौरव के प्रति मोह होता। वे खैरागढ़ आकर अपने बाल्यकाल का वही स्नेहमय वातावरण खोजते थे, जिसके कारण खैरागढ़ पर उनका अंत समय तक ममत्व बना रहा। अब एक परिवार के भीतर ही स्वार्थों का संघर्ष इतना बढ़ गया कि पारिवारिक स्नेह सूत्र ही छिन्न-भिन्न होता जा रहा था, परन्तु दादाजी जब अपने बाल्यकाल की बातें बताते तो हम लोगों को आश्चर्य होता- परिवार क्या पूरा खैरागढ़ ही एक स्नेह सूत्र में बंधा था। वे बतलाते, कितने ही मुसलमानों से कितने ही हिंदुओं का दृढ़ स्नेह सम्बन्ध था। वे स्वयं नन्हे ख़ाँ को बाल्यकाल में चाचा मानते आए और उनके घर में एक लड़के की तरह हमेशा स्नेह पाते रहे। एक घसयारिन, जिसे वे नानी कहते थे, वह जब तक जीवित रही उनके घर में बराबर आदर पाती रही। दादाजी के एक साथी अकबर ख़ाँ से उनका बंधुत्व भाव अंत तक बना रहा। स्वयं अकबर ख़ाँ एकादशी का व्रत भी रखते थे और उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान भी था। दादाजी यह बताते थे कि उस समय छुआछूत की इतनी अधिक कट्टरता थी कि तुम लोग उसकी कल्पना नहीं कर सकते, फिर भी स्नेह सम्बंध कभी शिथिल नहीं हुए।

वे लिखते हैं- 'खैरागढ़ में आकर मैं उसके विगत वैभव की बात को नहीं भुला पाता। यह मैं जानता हूँ कि जो गया वह फिर नहीं आएगा। सुरिहाबाई के मन्दिर के साथी मेरे बाल सहचरों की कितनी ही स्मृतियाँ सम्बद्ध हैं। सुरिहाबाई के मन्दिर के समीप अब ऊबड़-खाबड़ मैदान है, वहीं हम लोगों का क्रीड़ास्थल था। हम लोग वहाँ फुटबाल खेलते थे। वहीं कभी-कभी क्रिकेट मैच भी होते थे। उन दिनों कस्तूरचंद बाल फेंकने में बड़े दक्ष थे। पंडित रविशंकर शुक्ल जी भी उस समय खैरागढ़ के विक्टोरिया हाईस्कूल में हेडमास्टर थे। क्रिकेट के खेल में वे भी सुयश प्राप्त कर चुके थे। छात्रों में भी वंशबहादुर सिंह जी थे और लखन सिंह जी का अच्छा नाम हो रहा था। उस मैदान में हम लोगों ने कई अच्छे क्रिकेट मैच देखे थे। सुरिहाबाई बालकृष्ण की उपासिका थीं। वे राजा फत्तेसिंह की रानी थीं, पर उन्होंने अपना वैधव्य जीवन बालकृष्ण की उपासना में ही व्यतीत किया। वे ज़मीन पर सोती थीं। दिन-रात भगवान की सेवा के लिए वे पंखा करती रहती थीं। दोपहर को उनके बालकृष्ण सोते थे, उस समय कोई भी विद्यार्थी वहाँ जाकर हल्ला नहीं कर सकता था। जब भगवान पाँच बजे सोकर उठते थे, तब गाते-बजाते थे। दस बजे रात तक खैरागढ़ के लब्धप्रतिष्ठ लोग वहाँ आते थे और भिन्न-भिन्न धार्मिक विषयों पर चर्चाएँ होती थीं। खैरागढ़ में रुक्खड़ स्वामी का मंदिर भी मेरे लिए पुनीत स्थल था। उस मंदिर के विषय में यह प्रसिद्ध है कि रुक्खड़ स्वामी ने तत्कालीन नरेश को यह आशीर्वाद दिया था कि 'जब तक मेरी मढ़ी तब तक तेरी गढ़ी।'

हम लोगों के मोहल्ले में समलिया साव की दुकान में यथेष्ट धार्मिक विवाद होते थे। अब उनकी दुकान में किसी अन्य व्यक्ति का स्वामित्व है। उनके पौत्र अब दूसरे स्थान में रहते हैं। उनके

पुत्र मदनलाल साव और देवलाल साव भी अब नहीं रहे। जब दयाराम साव जी नहीं रहे थे, तब मैंने कहा था कि खैरागढ़ की एक और विभूति का लोप हो गया। वे अपने उदार स्वभाव के कारण प्रसिद्ध थे। उसी के साथ वे शतरंज के खिलाड़ी थे। खैरागढ़ में राजा लालबहादुर के जन्मोत्सव पर जो क्रीड़ा प्रतियोगिता होती थी, उसमें शतरंज का भी प्रमुख स्थान था। वह दिन अभी तक मेरे लिए अविस्मरणीय है जब लाल प्रद्युम्नसिंह जी के साथ दयाराम साव जी का खेल हुआ। दोनों की बड़ी प्रसिद्धि थी और खेल के अंत तक यह कोई नहीं कह सकता था कि कौन जीतेगा? अंत में लाल प्रद्युम्नसिंह जीत तो गए पर उन्होंने दयाराम साव की कुशलता को स्वीकार किया।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' पढ़ने के बाद मैंने अनुभव किया कि हिन्दी में वही एक उपन्यास है, जिसमें नायकों की कोई महत्ता नहीं है, महत्ता है उस भूखंड की जो मैले आँचल की तरह फैला हुआ है और जिसमें भिन्न-भिन्न लोग रंगभूमि के पात्र की तरह कुछ समय के लिए अवतीर्ण होते हैं, फिर लुप्त हो जाते हैं। खैरागढ़ के धूल-धूसरित भूखण्ड में मैं रेणु जी के 'मैला आँचल'की विशेषता पाता हूँ। यहाँ मैंने जीवन के विशुद्ध स्नेह के साथ सेवा और त्याग के उच्च भावों का भी अनुभव किया।' अपने जीवन की समीक्षा करते हुए उन्होंने कहा कि स्थानों में खैरागढ़, मित्रों में रामानुज तथा पुस्तकों में 'चंद्रकांता संतति' ही सर्वोपरि है।

खैरागढ़ पर दादाजी का यह ममत्व अंत तक बना रहा। दादाजी कहा करते थे- 'खैरागढ़ मेरी जन्मभूमि है। राजनांदगाँव मेरी कर्मभूमि है।'

लेखिका बख्शी जी की सुपौत्री तथा सुपरिचित साहित्यकार हैं। सम्पर्क- 09752606036

नगर नहीं परिवार है मेरा

*खैरागढ़ में मिलने वाले अपनेपन से अभिभूत **विक्रांत सिंह** अपने इस बृहत् परिवार के लिए हर सम्भव प्रयास करने की इच्छा जता रहे हैं*

बात तब की है, जब मैं दूसरी बार चुनाव लड़ रहा था। किलापारा वार्ड में जनसम्पर्क के दौरान गोपाल जी से मुलाक़ात हुई। वे देख नहीं सकते हैं। मैं जब उनके घर पहुँचा और उन्हें पता चला कि मैं आया हूँ, उन्होंने मुझे गले से लगा लिया। कहने लगे- 'मैं बीमार हूँ, चल नहीं पा रहा हूँ, लेकिन तुम्हें वोट देने ज़रूर जाऊँगा। तुमने इस मोहल्ले में बहुत काम करवाया है।' उनकी बात मुझे भावुक कर गई। काम को ऐसा मान तो कोई अपना ही दे सकता है। खैरागढ़ मेरा शहर ही नहीं, मेरा घर भी है। यहाँ के लोग केवल परिचित ही नहीं, आत्मीय हैं। शहर में मुझे हमेशा एक पारिवारिक माहौल मिला। मैं जिस घर गया, परिवार के एक सदस्य की तरह ही स्नेहभरा व्यवहार मिला। लोग मुझे ग़ौर से सुनते हैं, खुलकर अपनी समस्याएँ भी बताते हैं। यह अनौपचारिकता खैरागढ़ की विशेषता है।

खैरागढ़ ने मुझे स्नेह दिया, सम्मान दिया, पद के माध्यम से सेवा करने का अवसर दिया। यहाँ अपनापन ऐसा है कि मेरा पद कुछ भी हो, लोगों के लिए मैं चिंकू या चिंकू भाई ही हूँ। यहाँ बीता हरएक पल यादगार है, लेकिन सबसे ज़्यादा यादगार हैं त्योहार और त्योहारों में भी होली का त्योहार। मस्ती, हँसी-मज़ाक़ तो खैरागढ़ की रग-रग में है। बचपन में होली के दिन हम सारे दोस्त धीरे-धीरे जुटते हुए हर दोस्त के घर जाते थे। ऐसे में जो दोस्त रंगों से बचने की कोशिश करता था, उसकी तो शामत ही आ जाती थी। एक-दो बार तो ऐसे दोस्त को हमने दरवाज़ा तोड़कर भी बाहर निकाला। सचमुच, बीते दिनों के बारे में सोचते ही होंठों पर मुस्कान खिल उठती है।

बचपन के दो मित्र ख़ासतौर पर याद आते हैं। पहला, भूपसिंह जो बेहद निर्धन परिवार का था। लगभग दस साल पहले उससे मुलाक़ात हुई थी, अब पता नहीं वह कहाँ है। दूसरा, स्व. प्रवीण

गायकवाड़ जो अब इस दुनिया में नहीं है। मेरी सबसे अच्छी दोस्ती शिलादित्य सिंह (निब्बू) से थी। वे भी शांत स्वभाव के थे और मैं भी। हम दोनों की संगीत में गहरी रुचि थी। इसलिए हम दोनों की गहरी छनती थी। उनका असामयिक देहांत मेरे लिए बड़ा दुखद है। स्कूल के दिनों से दो और क़रीबी दोस्त हैं ऋषिदीप सिंह और मनीष मिश्रा। हम जब भी मिलते हैं, सारी चिंता-फ़िक्र को किनारे करके गप्पें लड़ाते हैं और माहौल ताज़गी से भर उठता है। यारों का साथ ऐसा ही होता है।

मैं शुरू से गम्भीर क़िस्म का हूँ। इस वजह से शरारतें नहीं ही करता था, सो कभी घर में पिटाई की नौबत ही नहीं आई। खेल-खेल में भी मेरा कभी किसी से कोई झगड़ा नहीं हुआ। स्कूल में भी मेरी छवि गम्भीर छात्र की रही। छवि के बारे में एक दिलचस्प प्रसंग याद आता है। तब शतरंज स्पर्धा में मैंने भी हिस्सा ले लिया था, हालाँकि इस खेल के बारे में मेरी जानकारी बहुत अधिक नहीं थी। उस पर भी यह कि मेरा मुक़ाबला स्कूल के शतरंज चैम्पियन से तय हो गया। संयोग ऐसा कि मैं जीत भी गया। बस, फिर क्या था, सबने मान लिया कि मैं शतरंज का बहुत बड़ा खिलाड़ी हूँ। इस ग़लतफ़हमी के चलते मैं काफ़ी दिनों तक चेस चैम्पियन कहलाया। स्कूल की बात चली है, तो गुरुओं के चेहरे भी याद आ रहे हैं, जिन्होंने मुझे शिक्षा दी और योग्य बनाया। आज मैं जो भी हूँ, उसमें दो गुरुजनों, स्व. खेलन सिंह और रमाकांत श्रीवास्तव सर का बड़ा योगदान है। हम श्रीवास्तव सर से बहुत डरते थे, इसलिए अक्सर उनकी क्लास बंक कर जाते थे। एक बार हम पकड़े गए, तो श्रीवास्तव सर कान मरोड़ते हुए क्लास में ले गए और ख़ूब डाँटा। अपने शिक्षकों के सामने मैं अब भी छात्र की भूमिका में होता हूँ। गुरुओं का हमेशा सम्मान करना मेरे संस्कारों में है।

घर मेरे लिए संस्कारों की पहली और सबसे महत्वपूर्ण पाठशाला है। माँ ने हमेशा अच्छा व्यवहार करने की सीख दी, तो पापा श्री सिद्धार्थ सिंह से सिद्धांतों पर चलने और झूठ न बोलने की सीख मिली। मैंने उन्हें एक अनुशासनप्रिय व्यक्ति के रूप में देखा है, जो व्यक्तिगत जीवन के साथ ही सामाजिक ज़िम्मेदारियों के निर्वहन को भी उतना ही महत्व देते हैं। मेरे दादा स्व. इंद्रदमन सिंह जनपद अध्यक्ष थे। मेरे जन्म से पहले ही दादा-दादी का देहांत हो चुका था, इसलिए उनका सीधा सान्निध्य तो न मिल सका, लेकिन मैंने उनकी छत्रछाया को हमेशा महसूस किया है। पापा उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के बारे में बताते रहते हैं, तो उन गुणों को अपनाने की प्रेरणा मिलती है। मेरे दादा जिस पद पर थे, आज मैं भी उसी पद पर हूँ। यह पद की बात नहीं है, मुझे लगता है कि क्षेत्र के प्रति गहरा लगाव और जनता की सेवा करने का भाव मुझे उनसे विरासत में मिला है।

मेरे पिताजी पालिका अध्यक्ष रहे हैं। उन्होंने हमेशा सिद्धांतों की राजनीति की। वे अपनी साफ़गोई के लिए पहचाने जाते हैं। वे हमेशा से गंदी राजनीति के ख़िलाफ़ थे। मुझ पर भी इन सब बातों का काफ़ी असर पड़ा। मैं अपने मामाजी, डॉ. रमन सिंह से भी प्रभावित और प्रेरित हूँ। जैसा कि छत्तीसगढ़ में होता है, बचपन से ही मामाजी के साथ मेरी अच्छी ट्यूनिंग रही है। अब तो उनका कार्यक्षेत्र और ज़िम्मेदारियाँ काफ़ी बड़ी और व्यापक हैं, इसलिए साथ रहने का उतना समय नहीं मिल

पाता, लेकिन उनसे स्नेह, सहयोग और मार्गदर्शन हमेशा मिलता रहता है। उनकी सीख और मार्गदर्शन के अनुसार चलते हुए ही मैं आगे बढ़ रहा हूँ और यहाँ तक पहुँच पाया हूँ। मामाजी यूँ तो बहुत धीर-गम्भीर हैं, लेकिन मैंने बचपन में उनका एक अलहदा रूप भी देखा है। उनकी एक ख़ासियत कम ही लोगों को पता है कि वे घटनाओं और बातों को एक बेहतरीन तरीक़े से मज़ाक़िया लहज़े में सुनाते हैं कि सामने वाला हँस-हँस कर लोटपोट हो जाता है।

मामाजी के साथ एक दिलचस्प घटना याद आती है। उन दिनों मैं गोंदिया में पढ़ता था। मुझे जिस ट्रेन से जाना था, वह छूट गई थी। मैं परेशान था। संयोग से अगली ट्रेन से मामाजी विधानसभा की कार्यवाही के लिए भोपाल जा रहे थे। ट्रेन आई तो मैं उनके साथ ही एसी कोच में बैठ गया। हालाँकि मुझे ध्यान नहीं रहा कि मेरी ट्रेन तो जा चुकी है और इस ट्रेन के लिए मेरे पास न तो आरक्षण है, न टिकट। टीटीई के पूछने पर यह एहसास हुआ। तब मामाजी ने अपना परिचय दिया और मेरा जुर्माना भरा। यह मेरे जीवन की पहली बिना टिकट यात्रा थी, जो अनजाने में हुई थी।

राजनीति का ककहरा मैंने घर पर सीखा है। नेतृत्व क्षमता के लिए किन गुणों की दरकार होती है, यह मैंने पिताजी, मामाजी को देखकर जाना है। विकास की योजनाएँ कैसे बनती हैं, काम कैसे होते हैं, सबको साथ लेकर कैसे चला जाता है, सबको मान-सम्मान कैसे दिया जाता है, यह सब मैं बचपन से देख रहा हूँ। हालाँकि राजनीति में उतरने के बारे में मैंने एक उम्र के बाद ही सोचा। साल 1998 में कॉलेज चुनाव के समय जब मैं राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय हुआ, तब महसूस हुआ कि यह जनता की सेवा का एक प्रभावी माध्यम है। इस तरह राजनीति में मेरी रुचि जागी। अपने संस्कारों की वजह से मैं साफ़-सुथरी राजनीति में यक़ीन करता हूँ। मुझे लगता है कि क्षेत्र के विकास और आम जनता के हितों के लिए पूरी शक्ति और क्षमता से काम करना चाहिए। जब आम लोगों की शुभकामनाएँ और दुआएँ साथ होती हैं, तो हर लक्ष्य पूरा होता है। खैरागढ़ में सुविधा-विस्तार और सौंदर्यीकरण की अपनी योजनाओं को एक-एक कर पूरा होते देख मुझे यह भरोसा हुआ कि धीरे-धीरे ही सही, पूरी तस्वीर बदली जा सकती है।

ऊपरी तौर पर देखें, तो खैरागढ़ अब काफ़ी बदल चुका है। पहले बहुत-सी गलियाँ कच्ची थीं, अब पक्की हो चुकी हैं। पहले घर छोटे होते थे, अब विशालकाय दुमंज़िला-तिमंज़िला मकान शहर की नई पहचान हैं। बावजूद इसके लोगों के व्यवहार में कोई बदलाव नहीं आया है। यहाँ बोली की मिठास पहले की तरह ही है। यह एक सकारात्मक ऊर्जा से भरा शहर है। शांत और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध। मेरा सौभाग्य है कि यह मेरी जन्मभूमि के साथ-साथ कर्मभूमि भी है और मुझे इसकी सेवा का अवसर मिला है। मेरा तो यह मानना है कि खैरागढ़ केवल शहरी सीमा तक सीमित नहीं है। समूचा क्षेत्र खैरागढ़ है। इसे मैं व्यापक फ़लक पर देखता हूँ और समूचे खैरागढ़ क्षेत्र के विकास की इच्छा रखता हूँ।

अब हम समग्र विकास की योजना पर काम कर रहे हैं, जिसमें बिजली-पानी और सड़क

जैसी बुनियादी सुविधाओं के साथ ही रोज़गार और तरक्क़ी के अवसर उपलब्ध कराना पहली प्राथमिकता है। मुझे आशा से बढ़कर विश्वास है कि जल्द ही खैरागढ़ विकास के बल पर प्रदेश और देश में अपनी पहचान बनाएगा।

लेखक युवा राजनेता हैं। पालिका अध्यक्ष रहे हैं, वर्तमान में जनपद अध्यक्ष हैं। सम्पर्क- 9425246007

इसी मिट्टी ने दी मज़बूती

***डॉ. अमृत चोपड़ा** बता रहे हैं कि खैरागढ़ की धरती ने उन्हें क्या दिया और वे इस धरती के प्रति कैसी भावनाएँ रखते हैं*

फोन पर बातचीत के दौरान खैरागढ़ से बालकृष्ण गुप्ता ने जब संस्मरणात्मक लेख भेजने के लिए कहा, तो मैंने तत्काल कह दिया कि एक-दो दिन में भेज दूँगा। सच कहूँ, तो मैं कई बार काग़ज़-क़लम लेकर बैठा, पर लिख नहीं पाया। मुझे यह सूझा ही नहीं कि क्या लिखूँ, कैसे लिखूँ!

खैरागढ़ मेरी जन्मभूमि है। आज मैं जो कुछ भी हूँ, इसी माटी की कृपा से हूँ। मुझे अपनी प्राथमिक शाला में पहली से पाँचवीं तक की पढ़ाई याद आती है। हाफी जी की बेंत जिससे हम सब डरते थे और उनका अनुशासन मुझे याद आता है। गाँधी जयंती पर मेरे जीवन का पहला कविता पाठ, जिसमें मैं अपनी तुतलाहट और हड़बड़ाहट के कारण कविता की अंतिम पंक्ति में 'टेक मुझे एक लकड़ी दे दे मैं गाँधी बन जाऊँ' की जगह 'मुझे एक लड़की दे दे' कह गया था। सभी हँसने लगे, तो मैं थोड़ा घबराया, लेकिन गुरुओं ने मेरा हौसला बढ़ाया, मुझे प्रोत्साहित किया। इस प्रारम्भिक प्रोत्साहन के कारण ही मैं अपने पूरे छात्र जीवन में भाषण, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेता रहा एवं कई पुरस्कार भी प्राप्त किए।

प्राइमरी की परीक्षा के बाद मैं विक्टोरिया स्कूल पहुँचा। वहाँ मुझे अपने गुरुदेवों से बहुत कुछ सीखने को मिला, विशेष रूप से स्व. रमाकांत बख्शी जी से, जिन्होंने हमें पढ़ाई के साथ-साथ रंगमंच पर अभिनय सिखाया। उन्हीं की छत्रछाया में मैंने एकल अभिनय शुरू किया, जो मेरे मेडिकल कॉलेज की पढ़ाई तक जारी रहा। उन्हीं दिनों भारत-चीन युद्ध हो गया। मुझे भी लगा कि शहीदों के लिए कुछ करना चाहिए, सो मैं शू-पॉलिश की डिब्बी व ब्रश लेकर पैसे जुटाने निकल पड़ा। मुझे आज भी याद है कि राजा बहादुर ने उस वक़्त स्नेहपूर्वक 21 रुपए की राशि दी थी। हमारे घर के

समीप रहने वाले स्व. गुहा अग्रवाल ने भी 11 रुपए दिए थे।

मुझे याद आता है फतेह मैदान में फुटबॉल-हॉकी खेलना, अपने मोहल्ले बख्शी मार्ग और गोलबाज़ार में कंचे, गिल्ली, रेसटीप, पिट्टुल खेलना, गर्मी की छुट्टियों में उपन्यास पढ़ना, हमारे सामने वाले श्रीचंद भैया के घर में ताश खेलना...

देखते-देखते मैं मैट्रिक पास हो गया। मैं पढ़ना चाहता था, परंतु पिताजी की इच्छा मुझे व्यवसाय से जोड़ने की थी। मैंने उनसे कहा कि सिर्फ़ एक साल के लिए मुझे कॉलेज जाने दीजिए, मैं डॉक्टर बनना चाहता हूँ। उन्होंने अनुमति दे दी। मैंने राजनांदगाँव के दिग्विजय कॉलेज में प्रवेश लिया एवं पहले ही प्रयास में मेरा एडमिशन मेडिकल कॉलेज में हो गया। सम्भवतः मैं खैरागढ़ में आज़ादी के बाद का पहला छात्र था, जो मेडिकल कॉलेज में पढ़ने जा रहा था। मेरे मामाजी डॉ. उत्तमचंद जैन चूंकि जबलपुर कॉलेज में थे, अतः मैंने भी पहली पसंद जबलपुर ही दी थी। मेरा तथा राजनांदगाँव के मेरे एक सहपाठी अशोक महाकालकर का एडमिशन जबलपुर मेडिकल कॉलेज में हो भी गया।

अब हम दोनों गोंदिया से छोटी लाइन से जबलपुर के लिए रवाना हुए। लगभग 7.30 बजे स्टेशन पर उतरे। मामाजी हमें लेने आए थे। हॉस्टल में उनके कमरे में पहुँचने के आधे घंटे बाद ही रैगिंग के लिए हमें ले जाया गया। घबराहट तो हो रही थी, लेकिन फिर भी भीतर कहीं एक शक्ति भी मुझे प्रेरित कर रही थी, हिम्मत दे रही थी।

रैगिंग के दौरान मुझसे एक सीनियर ने पूछा कि कहाँ से आए हो। मैंने कहा- ‘खैरागढ़ से।’ यह जवाब उनके लिए चौंकाने वाला था, क्योंकि सामान्यतः छात्र जिस कॉलेज से पढ़कर आता है, वहीं का नाम लेता है। लेकिन मेरे मुख से किसी अदृश्य शक्ति ने राजनांदगाँव की जगह खैरागढ़ कहलवाया था। खैरागढ़ सुनते ही वे मुझे घूरकर देखने लगे। वैसे भी, जबलपुर मेडिकल कॉलेज में खैरागढ़ से पहुँचने वाला मैं पहला छात्र था। उन्होंने ताना मारते हुए मुझसे सवाल किया, ‘क्या उसी खैरागढ़ से, जहाँ नाच-गाने की पढ़ाई होती है?’ मेरे लिए यह उपहासात्मक भाषा असहनीय थी। जूनियर होने के बावजूद मुझसे रहा नहीं गया, मैंने कहा- ‘नहीं, मैं उस खैरागढ़ का हूँ, जहाँ अपनी तरह का, दुनिया का मशहूर इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय है।’ उन्हें मुझसे इस तरह के जवाब की अपेक्षा नहीं थी। हालाँकि उसके बाद सुबह चार-पाँच बजे तक रैगिंग होती रही, लेकिन मैं आत्मविश्वास से भरा हुआ था और मैंने हर प्रश्न का बेझिझक जवाब दिया। शायद यह खैरागढ़ की माटी का ही प्रभाव था।

कुछ पारिवारिक कारणों से मुझे शासकीय सेवा में आना पड़ा, लेकिन खैरागढ़ कभी भी मेरे मन-मस्तिष्क से विस्मृत न हुआ। जब भी मुझे किसी कार्यक्रम में उद्‌बोधन का अवसर मिला, मैंने किसी न किसी बहाने अपनी जन्मभूमि को याद अवश्य किया।

मैं खैरागढ़ से जुड़ी एक स्वीकारोक्ति भी करना चाहता हूँ। मुझे ख़ुशी है कि मैंने जीवन में

अपने लिए जो भी लक्ष्य निर्धारित किए, उन्हें हासिल किया। मैंने कभी असफलता का मुँह नहीं देखा, लेकिन एक चाहत थी कि मैं एक जनप्रतिनिधि की हैसियत से अपनी जन्मभूमि की सेवा करूँ, वह अब तक पूर्ण नहीं हो सकी है। बहरहाल, मुझे संतोष है कि खैरागढ़ से सम्बंधित जो भी कार्य मेरे सामने आए, मैंने उनमें यथासम्भव सहयोग दिया। मुझे अपनी जन्मभूमि को सर्वसुविधायुक्त, सम्पन्न और ख़ुशहाल देखने की तमन्ना है। मुझे इस मिट्टी से इतना लगाव है कि मैंने अपने चारों बच्चों के विवाह का शुभारम्भ कुमकुम कार्यक्रम के रूप में खैरागढ़ से ही किया। अब भी जब कभी खैरागढ़ जाता हूँ, तो घर पहुँचने के बाद सीधे बस स्टैंड, सैलून के लिए निकल जाता हूँ। पुराने दोस्तों से मिलता हूँ। हम गप्पें मारते हैं, तो अच्छा लगता है। कहीं यह बात नहीं आती कि एक बड़ा अधिकारी हूँ। मैं पहले पान खाता था। आज भी जब अपने गुरुजनों को आता देखता हूँ, तो पान ठेले से दूर हो जाता हूँ कि कहीं वे मुझे वहाँ खड़ा देख न लें। सम्मान और लिहाज़ के ये संस्कार मुझे खैरागढ़ से ही मिले हैं।

मेरे पिताजी मानते थे कि हम जो कुछ हैं, इस नगर के कारण हैं। वे चाहते थे कि मैं डॉक्टर बनकर यहाँ के लोगों की सेवा करूँ। उन्होंने मेरे लिए अमलीपारा में एक अस्पताल भी बनवाया, लेकिन मैं क्लीनिक शुरू करने के बाद भी कुछ पारिवारिक कारणों से उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सका। इसका मुझे ताउम्र अफ़सोस रहेगा।

यह पहला अवसर है, जब मैं अपनी जन्मभूमि से जुड़े संस्मरण लिख रहा हूँ। मेरी आँखों के सामने बचपन से लेकर आज तक के दृश्य चलचित्र की भांति आते जा रहे हैं और ओझल हो रहे हैं। समझ नहीं पा रहा हूँ कि और क्या लिखूँ। लेकिन मैं अपनी एक गहरी इच्छा के बारे में ज़रूर बताना चाहूँगा, जिसका ज़िक्र मैंने अब तक किसी के सामने नहीं किया, अपने परिवार के सामने भी नहीं! मैं चाहता हूँ कि मरने के बाद मेरा अंतिम संस्कार खैरागढ़ में हो और वहीं मेरा पुनर्जन्म भी हो...।

लेखक कुशल चिकित्सक और प्रबंधक हैं। सम्पर्क- 09827197473

खड्गराय से मिला नाम

***शंकरदयाल सिंह बैस** खैरागढ़ के इतिहास की चलती-फिरती किताब की तरह थे। उनकी इन स्मृतियों में सदियों के सिलसिले हैं*

जब मुझसे संस्मरण लिखने का आग्रह किया गया, तो मैं सोच में पड़ गया कि क्या लिखूँ। काग़ज़-क़लम से तो दस वर्ष पहले ही दूर हो चुका था और मैं कभी लेखक भी नहीं रहा। लेकिन आग्रह को टाला भी नहीं जा सकता था। सोचने लगा कि अपनी किन यादों को दर्ज करूँ। तभी मुझे डॉ. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी जी का वह निबंध याद आया, जो उन्होंने इस प्रकार की स्थिति आने पर लिखा था- 'क्या लिखूँ?' फिर मैंने लेखनी उठाई। प्रश्न उठा, कहाँ से शुरू करूँ? 70 वर्ष के जीवनकाल में बहुत-सी यादें हैं। सोचा, क्यों न शुरू से ही शुरू किया जाए! अपने विद्यार्थी जीवन की बातें याद आने लगीं।

मेरी प्राथमिक शिक्षा ग्रामीण अंचल के जालबाँधा प्राइमरी स्कूल से प्रारम्भ हुई। उन दिनों प्राथमिक शिक्षा चौथी कक्षा तक ही हुआ करती थी। तब डिप्टी इंस्पेक्टर थे केशव प्रसाद श्रीवास्तव जी, जो सेवानिवृत्त प्राचार्य पी.के. श्रीवास्तव के पिता थे। चौथी बोर्ड की परीक्षा लेने वे परीक्षा केंद्र मदुराकुही आए। उस ज़माने में यह बोर्ड परीक्षा भी स्लेट पट्टी पर ही ली जाती थी। जालबाँधा स्कूल से हम सात विद्यार्थी परीक्षा में प्रविष्ट हुए थे। परीक्षा परिणाम घोषित हुआ, तो मैं प्रथम स्थान पर उत्तीर्ण हुआ था। उन दिनों मेरे पिता जागेश्वर सिंह जी जालबाँधा स्कूल के हेडमास्टर हुआ करते थे। चौथी उत्तीर्ण करने के बाद पाँचवीं कक्षा में प्रवेश के लिए मैं खैरागढ़ आया, जो मेरा पैतृक नगर और जन्म स्थान भी है।

इतिहासकारों के मुताबिक़, खैरागढ़ राज की स्थापना सोलहवें नरेश खड्गराय के शासनकाल में हुई। सन् 1741 में राजनीतिक परिवर्तन हुआ। हैहयवंशी कलचुरियों के शासन का अंत हो गया और छत्तीसगढ़ में भोसलों का राज स्थापित हुआ। 1755 में सोलहवें राजा खड्गराय ने पिपरिया,

मुस्का और आमनेर नदी के मध्य वर्तमान किलापारा में एक क़िला बनाकर अपने नाम से एक नगर बसाया, जिसका नाम खड्गगढ़ से कालांतर में खैरागढ़ हुआ। राजा खड्गराय का विवाह फतेहपुर (उप्र) के देवीसिंह गौतम की कन्या से हुआ, जिनके गर्भ से महान प्रतापी टिकैतराय का जन्म हुआ। वर्तमान खैरागढ़ में नागवंशी राजाओं के इतिहास का प्रारम्भ खड्गराय से होता है। इतिहास से ज्ञात होता है कि खड्गराय खोलवा राज के सोलहवें नरेश थे, किंतु खैरागढ़ राज के पहले नरेश हुए। कई इतिहासकारों का यह भी मत है कि इस क्षेत्र में खैर के जंगल थे, जिन्हें काटकर एक नगर बसाया गया और इसीलिए इसका नाम खैरागढ़ पड़ा।

बहरहाल, खैरागढ़ में मेरी शिक्षा-दीक्षा जिस शाला से शुरू हुई, उसका भी परिचय दे दूँ। 21वें राजा उमराव सिंह द्वारा 1 जून, 1885 को वर्नाक्युलर अँग्रेज़ी स्कूल की स्थापना की गई। 1887 में महारानी विक्टोरिया की रजत जन्म जयंती के अवसर पर उस संस्था का नाम विक्टोरिया अँग्रेज़ी स्कूल रखा गया। 22वें नरेश राजा कमल नारायण सिंह के द्वारा 1892 में अँग्रेज़ी मिडिल स्कूल और सन् 1900 में स्थापित विक्टोरिया हाईस्कूल की पाँचवीं कक्षा में मैंने सत्र 1951-52 में प्रवेश लिया। तब बी.सी. दास हेडमास्टर हुआ करते थे। सहशिक्षा विद्यालय में लड़के-लड़कियों दोनों को प्रवेश मिलता था। मेरे समय में पाँचवीं अ में छह छात्राएँ थीं- राधेश्वरी, मंसूरी, उर्वशी, रमा, श्याममणि और अश्वनी। सभी लड़कियाँ राजपरिवार से सम्बंधित थीं। मेरे वर्ग पाँचवीं ब में सबसे मेधावी छात्र नारायण सिंह थे, जो बाद में कनाडा जा बसे। इनके बाद थे विनय बहादुर सिंह और चित्रकला में विशेष रुचि रखने वाले संतराम महोबे। उन्होंने पेंटिंग में पीएचडी भी की। ज़िला शाला निरीक्षक पद से सेवानिवृत्ति के बाद वे फ़िलहाल भिलाई में निवासरत हैं।

छात्र जीवन में हमारी मित्र मंडली में अमरसिंह ठाकुर, सुदर्शन नंदनायक, नर्मदा पांडे, भागवत सिंह ठाकुर, शिवकुमार पांडेय, जयलाल नेताम, रामकुमार चौहान, रामावतार सिंह भारती, रामसेवक सिंह ठाकुर, रूपेंद्र सिंह आदि हुआ करते थे। राजपरिवार के मेरे इष्ट मित्रों में सूर्यभूषण सिंह, घनश्याम बहादुर, लक्ष्मण बहादुर, हरिदर्शन सिंह बघेल, पद्मराज सिंह, मोरेश्वर सिंह, तीरबहादुर सिंह, दिनकर सिंह, हरिशरण सिंह आदि थे। शुरुआत से 1959-60 तक जिन गुरुजनों का मुझे सान्निध्य प्राप्त हुआ, उनमें एम.डी. सिंह, नायडू सर, गजेंद्र सर, बेहरा सर, एस.डी. झा, आर.बी. लाल, जी.एन. झा, गामा सर, के.डी. झा, चौबे जी, दानी सर, राजेंद्रनाथ कर्महे ऐसे नाम हैं, जिन्हें भुला पाना मुश्किल है।

मैट्रिक उत्तीर्ण करने के बाद 15 मार्च, 1961 को जनपद सभा खैरागढ़ द्वारा सहायक शिक्षक के पद पर मेरी नियुक्ति ग्राम सोनभट्ठा में हुई। तब प्रधानपाठिका पाँचवीं कक्षा में मेरी सहपाठी रहीं उर्वशी सिंह थीं। दो वर्ष बाद मेरा स्थानांतरण दुर्ग-राजनांदगाँव ज़िले की सरहद पर ग्राम बफरा में हुआ और वहाँ से 1984 में खैरागढ़ नगर स्थित शासकीय बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक शाला में पहुँचा बतौर उच्च वर्ग शिक्षक। बीस वर्षों की सेवा के बाद मैं इसी विद्यालय से 30 सितम्बर,

2004 को सेवानिवृत्त हुआ। यहाँ शाला विकास समिति के माध्यम से मुझे बहुत-से निर्माण कार्यों में सहभागिता का अवसर मिला।

स्कूल का शताब्दी समारोह 15 फरवरी, 1989 को तत्कालीन अविभाजित मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री मोतीलाल वोरा के मुख्य आतिथ्य में आयोजित हुआ। समारोह की अध्यक्षता शिक्षामंत्री चित्रकांत जायसवाल ने की, जबकि सांसद शिवेंद्र बहादुर सिंह और विधायक श्रीमती रश्मिदेवी सिंह विशिष्ट अतिथि थे। इस अवसर पर शताब्दी समारोह समिति के अध्यक्ष रामसहाय अग्रवाल, कोषाध्यक्ष गुलाब चोपड़ा और तत्कालीन प्राचार्य राजवल्लभ पांडेय की विशेष उपस्थिति रही। समापन समारोह के मुख्य अतिथि श्यामाचरण शुक्ल थे। यह विद्यालय ही नहीं, नगर के इतिहास में एक स्वर्णिम दिवस था।

विक्टोरिया हाईस्कूल का नाम ही बाद में आदर्श शासकीय बहुउद्‌देशीय उच्चतर माध्यमिक शाला हुआ। यहाँ बीस वर्षों के अपने शिक्षकीय कार्यकाल में मुझे कई वरिष्ठों, समकक्षों और कनिष्ठों का भरपूर सहयोग मिला। संस्मरण के लिए यादों के पिटारे को टटोलते हुए जो नाम याद आ रहे हैं, उनमें आर.बी. पांडेय, गोपालराम सरीन, श्री पोर्ते, शिवकुमार भरतद्वाज, पतराम साव, आर.के. श्रीवास्तव, श्री देवांगन, टी.आर. साहू, बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु', हीरालाल अग्रवाल, के.एल. कौशिक, डॉ. जीवन यदु राही, आर.के. यादव, बागेश्वर सिंह, प्रकाश खरे, प्रभाकर राव, लाल सिंह वर्मा, विपिन गुप्ता, ज्ञानेंद्र प्रसाद तिवारी, कु. बिलकीश, रागिनी सिंह, श्रीमती मसीह, कमला सिंह, शैली सिंह, अनुराग सिंह, करुणा सिंह, सुनील गुनी वग़ैरह हैं।

सेवानिवृत्ति के पश्चात ईश्वर कृपा से मेरे मन में विचार आया कि नगर के मध्य में स्थित रियासतकालीन बाँकेबिहारी मंदिर का जीर्णोद्धार कराया जाए। इसके लिए नगर के धर्मप्रेमियों की एक बैठक आयोजित की गई। इस बैठक में मुझे मंदिर समिति का अध्यक्ष, अशोक मुणोत को उपाध्यक्ष और अशोक ओसवाल को कोषाध्यक्ष नियुक्त किया गया। कार्यकारिणी के लिए परमानंद सिंह राजपूत, गोपाल सिंह दीक्षित, गोपाल यादव, प्रबल खत्री, रामसजीवन सिंह, चंदन सिंह राजपूत, मदन सिंह ठाकुर, अरुण गुप्ता, अनुज गुप्ता, शरद ताम्रकार, महेश ठाकुर, सुरेश ठाकुर, राजेश फोटानी, भूपेंद्र शर्मा सहित 15 लोगों का चयन किया गया।

तब से मंदिर समिति ने अनेक निर्माण कराए हैं। मंदिर को एक नया रूप मिला, बरामदे का टीन शेड हटाकर नया निर्माण कराया गया। मंदिर में आय का स्रोत बढ़ाने के लिए व्यावसायिक परिसर बनाया गया। महिला सत्संग मंडल ने मंदिर परिसर में ही शिवमंदिर, गायत्री मंदिर और सीताराम मंदिर बनवाया। तत्कालीन विधायक कोमल जंघेल के सहयोग से हनुमान मंदिर पुनर्निर्मित हुआ। तत्कालीन सांसद मधुसूदन यादव की सांसद निधि से नगरपालिका अध्यक्ष विक्रांत सिंह ने विशेष रुचि लेकर बाँकेबिहारी सामुदायिक भवन का निर्माण करवाया।

इस मंदिर को बम्बईबाज मंदिर के नाम से भी जाना जाता है। इस नामकरण के पीछे एक

दिलचस्प प्रसंग है। सन् 1900 में राजा कमलनारायण के शासनकाल में बम्बई (अब मुम्बई) से एक कृष्णलीला मंडली खैरागढ़ आई थी। उसने गोलबाज़ार में कृष्णलीला का आयोजन किया। अंतिम दिन चढ़ावे में जो राशि मिली, उसमें से चांदी के 501 सिक्के (कलदार) तत्कालीन दीवान साहब को सौंपकर बाँकेबिहारी मंदिर के निर्माण का आग्रह किया गया। दीवान ने राजा कमलनारायण की अनुमति से वर्तमान स्थल पर मंदिर बनवाया। बम्बई की मंडली की पहल पर बने इस मंदिर को इसीलिए बम्बईबाज मंदिर भी कहा जाता है।

बहरहाल, सेवानिवृत्ति के बाद समय मित्रों की मंडली में व्यतीत हो रहा है। इस मंडली में विजय गुप्ता, भुवन सिंह ठाकुर, ज्ञानेंद्र तिवारी, गोपाल सिंह दीक्षित, संतोष गुप्ता और जगदीश गहरवार हैं। पर्यटन, तीर्थाटन, सैर-सपाटा, पिकनिक का आनंद हम साथ ही उठाते हैं। रोज़ाना साथ बैठते हैं, विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। बस, समय बढ़िया बीत रहा है।

स्व. शंकर दयाल सिंह बैस समाजहित में जीवन-पर्यंत सक्रिय रहे। विनम्र श्रद्धांजलि।

स्मृतियों की डोर बंधी है

***आनंद टहनगुरिया** उन स्नेह की डोरियों का उल्लेख कर रहे हैं, जो उन्हें खैरागढ़ खींच लाती हैं और घर में मिलने वाली आत्मीयता का एहसास कराती हैं*

स्मृतियाँ खैरागढ़ की मिटाए नहीं मिटतीं दिलो-दिमाग़ से। रात अंधेरे जब कभी खुल जाती है नींद, मैं और मेरा मन सोचते हैं कुछ-कुछ। इस रात के शून्य में न जाने क्या-क्या। रचना-कर्म के बारे में, दुनिया और जहान के बारे में। तब मन कहीं न कहीं भटकते हुए चला जाता है इन्हीं स्मृतियों के भीतर और जुड़ जाता हूँ या जोड़ लेता हूँ घटनाक्रम को फिर से पीछे की उस दुनिया में। और पहुँच ही जाता हूँ खैरागढ़ में...।

खैरागढ़ के बारे में जो कुछ सोचता हूँ और लिखना चाहता हूँ, चाहूँ तो भी लिख न सकूँगा शायद। दो बरस पहले पिता के देहावसान के बाद मैं बार-बार सोचता रहा कि क्या माँ और पिता के न रहने से, शहर से रिश्ता रह पाएगा? पर नहीं, खैरागढ़ एक ऐसा शहर है जो शहर तो कभी नहीं रहा। 30 बरस बाद भी क़स्बा ही है और उसकी संस्कृति भी अब तक क़स्बाई ही है। वहाँ की मिट्टी में ही वह बात समाई हुई है कि स्मृतियों की डोर कभी टूट ही नहीं पाएगी।

मैंने 30 बरस पहले खैरागढ़ छोड़ दिया था, पढ़ाई के तुरंत बाद ही। पहले तो अविभाजित मध्यप्रदेश के कारण मानसिक तौर पर हम सब एक ही थे। छत्तीसगढ़ से लोग भोपाल आते रहते थे, हालचाल मिलते रहते थे, स्मृतियाँ ताज़ा होती रहती थीं। राज्य विभाजन के कुछ बरसों के बाद से एक अंतराल-सा बनता गया। तब फिर लगा कि अब फिर स्मृतियाँ कमज़ोर न पड़ जाएँ। पर ऐसा हो न सका।

अब समय थोड़े बड़े पैमाने पर सोचने का था और अब तक हमारा फ़लक भी व्यापक हो चुका है। बात जब लिखने की हुई, तो समझ नहीं आया कि क्या लिखूँ और क्या छोड़ूँ। पर कुछ वाक़यों के उल्लेख से अपनी बात कहूँगा। खैरागढ़ ने तो इतना कुछ दिया है कि अब भी बताने में

नहीं हिचकता कि मैं खैरागढ़ से हूँ। जीवन में बातें तो आती और जाती हैं, पर कुछ बातें प्रेरणा बन जाती हैं। एक घटना पिछले दिनों की है। मैं विगत 28 वर्षों से भोपाल स्थित इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय में चीफ आर्टिस्ट के पद पर कार्यरत हूँ। यह देश का अनूठा संग्रहालय है, जो मानव की संस्कृति पर शोध के साथ उसके उन्नयन पर काम करता है। हमारी संस्कृति में लोक व जनजातीय चित्रों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। और मैं विगत दो दशकों से इनके संरक्षण, संवर्द्धन व लोकप्रिय बनाने के लिए कार्यरत हूँ। साथी योगेंद्र त्रिपाठी जो दुर्ग के शासकीय कन्या महाविद्यालय के चित्रकला अनुभाग के प्रमुख हैं, का आग्रह था कि हमारे देश की महत्वपूर्ण एवं समृद्ध लोककला परम्परा से कला के विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए मैं कुछ करूँ। मैंने अपने संस्थान की तरफ़ से लोक जनजातीय चित्रकारों की एक कार्यशाला कॉलेज में आयोजित की।

चूंकि अब मेरा खैरागढ़ या छत्तीसगढ़ जाना कम ही होता है, अतः योगेंद्र ने आग्रह किया कि आप अपने साथ कुछ पेंटिंग भी ले आएँ, भिलाई की नेहरू आर्ट गैलरी में एक प्रदर्शनी भी हो जाएगी। इस बहाने लोगों से मिलना-जुलना हो जाएगा और लोग आपके चित्र भी देख सकेंगे। प्रदर्शनी एक से चार फरवरी, 2014 तक थी। उद्घाटन शाम 5.30 बजे होना था। मैं 5.15 बजे जब दीर्घा में पहुँचा, तो चौकीदार ने बताया कि एक बुजुर्ग व्यक्ति आपका इंतज़ार कर रहे हैं। मैं उनके पास गया और अपना परिचय दिया। उन्होंने कहा कि मैं एल.एन. पचौरी हूँ। तुम्हारी प्रदर्शनी के बारे में अख़बार में पढ़ा, तो तुमसे मिलने की इच्छा हुई। यहाँ बताना चाहूँगा कि पचौरी सर सन् 80-81 में दो वर्षों के लिए रवींद्र भारती विश्वविद्यालय कोलकाता से डेपुटेशन पर खैरागढ़ आए थे और मुझे पढ़ाया था। वे दो वर्ष बाद वापस चले गए और बाक़ी समय कोलकाता में ही बिताया। इस बीच मेरा उनसे कोई सम्पर्क भी नहीं हुआ। उन्होंने बताया कि संयोगवश वे कुछ दिनों के लिए अपने भाई के पास भिलाई आए हुए थे। 84 साल की उम्र में भी उनकी याददाश्त और मेरे प्रति प्रेम की वजह खैरागढ़ ही तो है। मैं उस क्षण काफ़ी भावुक हो गया और हम पूरे समय खैरागढ़ की स्मृतियों के साथ रहे।

मैं जब खैरागढ़ से पढ़कर निकला, वह एक शुरुआती दौर था। देश के बड़े कला संस्थानों के बीच एक प्रतिस्पर्धा थी। अब तो खैरागढ़ के छात्र पूरे देश में अपनी प्रतिभा के बल पर खड़े हुए हैं। वे दिल्ली, मुम्बई, चंडीगढ़, हैदराबाद सभी जगह मिल जाते हैं और यह बेहद सुखद बात है कि चूंकि मैंने ही खैरागढ़ में एम.एफ.ए. अध्ययन की शुरुआत की थी, अतः आज तक सभी लोग मुझे आनंद भैया के नाम से ही पहचानते और पुकारते हैं। खैरागढ़ की स्मृतियों में मैं देश के महान चित्रकारों एन.एस. बेंद्रे, के.एस. कुलकर्णी, सम्भाजी कदम, श्यामल दासगुप्ता, डी.जे. जोशी का नामोल्लेख करूँगा, जिनका पढ़ाई के दौरान मुझे मार्गदर्शन और सान्निध्य मिला। वहीं दूसरी ओर मेरे अध्ययनकाल में उपकुलपति रहे डॉ. अरुण कुमार सेन, विमलेंदु मुखर्जी एवं एम.आर. गौतम, जो महान संगीतज्ञ तो थे ही, साथ ही उनके महान व्यक्तित्व का स्नेह भी निजी तौर पर मुझे प्राप्त हुआ।

खैरागढ़ की स्मृतियों में मैं अपने गुरुओं का उल्लेख न करूँ, यह सम्भव नहीं। एस.के.

श्रीवास्तव सर ने सिखाया कि काम क्या होता है और कैसे किया जाता है। रंग, ब्रश, ये सब सिर्फ़ टूल होते हैं, काम तो दिमाग़ ही करता है। टूल की भूमिका तो ज़रूर होती है, किंतु दिमाग़ ही सबकुछ है। हर परिस्थिति में काम सम्भव कर पाना उन्होंने ही सिखाया। दूसरा नाम एस.डी. श्रीवास्तव सर का है, जिनसे काम की संजीदगी सीखी। महेशचंद्र शर्मा सर मुझे एम.एफ.ए. में पढ़ाने आए और बताया कि पढ़ाई तो तुमने बी.एफ.ए. में कर ली है, ये दो वर्ष सम्पूर्णता को जानने-समझने के वर्ष हैं। बी.एफ.ए. डिग्री कोर्स होता है और जब तक कला के इतिहास व कला परम्परा का ज्ञान न हो, कला के नए आयामों को नहीं छुआ जा सकता है। डॉ. उमेश मिश्रा सर ऐसे ही समय में खैरागढ़ आए और हमें इस ज्ञान से परिचित कराया। वे अब इस दुनिया में नहीं हैं, पर उनके द्वारा दिया गया ज्ञान ही है, जो इस लायक़ हूँ। एक ऐसे गुरु भी हैं, जिन्होंने मुझे पढ़ाया तो नहीं, किंतु साहित्य और कला के अंतर्संबंधों का बोध कराया और अध्ययन का महत्व बताया। यही कारण है कि मैं आज कुछ लिख-पढ़ सकने की स्थिति में हूँ। मेरे वे गुरु हैं, महान साहित्यकार डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव, जो उन दिनों खैरागढ़ विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर थे। खैरागढ़ ने ही मुझमें चित्रकला के साथ साहित्य और संगीत के प्रति रुचि जगाई, जो आज तक मेरे जीवन में समाई हुई है।

खैरागढ़ की स्मृतियाँ परम मित्र आसिफ़, जिनका 45 वर्ष की अल्पायु में ही देहावसान हो गया, के बिना अधूरी हैं। आसिफ़ मेरे ऐसे मित्र थे, जिनके साथ मैं सबकुछ साझा किया करता था। वे जब तक रहे, हम हर बात पर, चाहे वह निजी हो या प्रोफेशन से जुड़ी, लगभग रोज़ चर्चा करते। वे मेरे संघर्ष के दिनों के साथी भी रहे। दिल्ली, मुम्बई जहाँ भी मेरी या उनकी प्रदर्शनी होती, हम साथ ही रहते। उनके जाने के बाद एक समय तो लगा कि अब सबकुछ ख़त्म हो गया, क्योंकि मेरी पहचान 'आनंद-आसिफ़ खैरागढ़ वाले' के रूप में ही रही है। पिछले दिनों की बात है। ममता चंद्राकर भोपाल आकाशवाणी की केंद्र निदेशक बनकर आईं। चूंकि वे हमारे ही दौर में संगीत की शिक्षा लिया करती थीं, अतः मैने उन्हें फोन किया। इस बीच मेरा उनसे कोई सम्पर्क नहीं रहा था, अतः मैंने अपना परिचय भी यही दिया- 'आनंद-आसिफ़ खैरागढ़।' उन्हें एक क्षण नहीं लगा मुझे इस तरह पहचानने में।

खैरागढ़ की स्मृतियों में दो मित्र अजय यादव और अशोक ओसवाल भी आज तक समाए हुए हैं और खैरागढ़ जाने के बहाने बने हुए हैं। वैसे तो खैरागढ़ की स्मृतियाँ हर चाय-पान की दुकान या कपड़े की उन तमाम दुकानों से जुड़ी हैं, जो मेरे सहपाठी चलाते हैं। मैं अब भी वहाँ जाकर बैठता हूँ और उसी पुरानी ऊर्जा के साथ कुछ समय गुज़ारता हूँ।

लेखक प्रख्यात चित्रकार और भोपाल के मानव संग्रहालय में चीफ़ आर्टिस्ट हैं। सम्पर्क-94256784472

यहीं सम्भव है ऐसा समभाव

***कृष्णकांत बख्शी** बता रहे हैं अपने दौर के उन दोस्तों के बारे में, जिनके बीच धर्म-मज़हब की कभी कोई दीवार नहीं रही और जिनका दोस्ताना अब तक क़ायम है*

'शिरडी' का नाम स्मरण करते ही मन में साईं-भक्ति हिलोरें लेने लगती है। और जब खैरागढ़ का नाम स्मरण करता हूँ, तो आत्मीयता, प्रेम, स्नेह, मैत्री व सद्भावना के मधु सुरों से मन के तार झंकृत हो उठते है।

खैरागढ़ नाम है एक छोटे-से मनोरम नगर का, जो पूर्व में एक वैभवशाली राज्य के रूप में सुस्थापित रहा है। यह प्राकृतिक रूप से जितना मनभावन है, उससे अधिक यहाँ की मिट्टी पावन और हवा सुरभित है। नगर के चारों ओर बहती नदियों की निरंतर कल-कल ध्वनि से यहाँ हर किसी के जीवन में बस कल ही कल है, लगता है, कहीं कोई बे-कल नहीं है। दूसरी ख़ास बात यह है कि यहाँ हर कोई, हर-किसी को बस अपना ही लगता है।

नगर के मध्य में मस्ज़िद स्थित है। समीप ही एक ओर माँ दंतेश्वरी का मंदिर स्थापित है, तो दूसरी ओर कुछ दूरी पर भगवान महावीर और श्रीराम मंदिर है। नगर के एक छोर पर शिवमंदिर है, तो दूसरे छोर पर प्रभु ईसा चर्च में विराजे हुए खैरागढ़ पर प्रेम की बारिश करते रहते हैं। इतवारी बाज़ार में शीतला और महामाया माई और साईं बाबा विराजमान हैं। मस्ज़िद से निकलती अजान की पाक आवाज़ और मंदिरों में गूंजते आरती के पावन स्वरों के संगम से नगर के वातावरण में नित्य ही आध्यात्मिक सद्भाव के सुर ऐसे घुलमिल जाते हैं, जैसे दूध में मक्खन और मिश्री में मिठास घुली रहती है। यह सद्भाव यहाँ हर दिन, हर तीज-त्योहार में, राष्ट्रीय पर्वों में, कभी विपदा की घड़ी में, यहाँ तक कि चुनावों के दौरान भी अपनी ख़ुशबू बिखेरता रहता है। यह बात मैं खैरागढ़ में हुए अपने जीवन के बेशक़ीमती अनुभवों के आधार पर लिख रहा हूँ।

खैरागढ़ मुझे अतिप्रिय है, न केवल इसलिए कि मेरा बाल्यकाल यहाँ बीता, बल्कि इसलिए

भी कि जीवन के कर्मक्षेत्र में पदार्पण भी मैंने यहीं से, शासकीय कन्या उच्चतर विद्यालय में भौतिकी के व्याख्याता के रूप में किया। यहाँ अपने माता-पिता, भाई-बहन, मित्रों एवं अन्य प्रियजनों के साथ बिताए स्नेह सिंचित, मधुरिम पलों का स्मरण करके दशकों बाद भी होंठों पर मुस्कान खिल उठती है।

मेरे अल्पकालिक शिक्षकीय जीवन की भी रोचक घटनाएँ हैं। प्राचार्य पी.वी.बिठालकर से हमारे पारिवारिक सम्बंध थे। वे मुझे घरेलू नाम 'बाबा' से सम्बोधित करती थीं। जब मैं गर्ल्स स्कूल में व्याख्याता नियुक्त हुआ, तब भी वे मुझे बाबा ही पुकारती थीं। परिणामस्वरूप वहाँ की सभी शिक्षिकाएँ और अन्य कर्मचारी भी इसी नाम से सम्बोधित करने लगे। कभी मैं क्लास ले रहा होता और कर्मचारी मुझे बुलाने आते, तो यही कहते- 'बाबा, प्रिंसिपल मैडम बुला रही हैं' और विद्यार्थी मुस्करा देते थे।

मेरा सौभाग्य रहा कि इस छोटे-से कालखंड में भी मुझे ऐसे प्रतिभाशाली विद्यार्थी मिले, जो आज समाज के विभिन्न क्षेत्रों में यशस्वी हो रहे हैं। मेरी विद्यार्थी प्रो. मांडवी सिंह आज इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में कुलपति के पद को शोभायमान कर रही हैं। उन्हें छत्तीसगढ़ की प्रथम महिला कुलपति होने का गौरव प्राप्त है। डॉ. नीता चौहान रीडर हैं और डॉ. साधना अग्रवाल प्रिंसिपल, तो श्रीमती फिरोज व श्रीमती रुख़साना व्याख्याता हैं। ये दोनों मेरी भाभियाँ भी हैं। मेरी एक विद्यार्थी डॉ. आशा अग्रवाल डॉक्टर हैं। वे सम्भवतः इस स्कूल की पहली छात्रा हैं, जिन्हें एमबीबीएस डाक्टर बनने का गौरव मिला। मेरी छोटी बहन डॉ. ज्योति बख्शी स्कूल में तो मेरी विद्यार्थी नहीं थीं, पर हाँ घर पर यदा-कदा गणित व फिजिक्स की कठिनाइयाँ सुलझाने में मेरी मदद लेती रहती थीं। आज वे इंकसंविवि में डीन के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा स्थापित नृत्यांगना व साहित्यकार हैं। इस लेख के माध्यम से मैं अपने समस्त विद्यार्थियों के लिए साईं से प्रार्थना करता हूँ कि वे सभी हर पल हँसते-मुस्कराते, गाते-गुनगुनाते रहें, स्वस्थ रहें, संतुष्ट रहें, सुखी रहें, समृद्धशाली होकर प्रगतिशील रहें, हमेशा सकारात्मक रहें, अच्छा सोचें, मीठा बोलें और सदा सीधी राह चलें।

मुझे साईं-भक्ति के संस्कार खैरागढ़ में ही मिले। मेरे मित्र धीरेन्द्र जोगेवार, भाई शिशिर से साईं का चित्र बनावाया करते थे। मैं भाई को पेंटिंग करते देखता और धीरे-धीरे साईं की तस्वीर मेरे मन में भी अंकित होती गई। इस प्रकार 1971-72 से साईं ने जीवन में प्रवेश किया, तो अब जीवन का हर पल उन्हीं के सुमिरन और उन पर लेखन में आनंदित है।

खैरागढ़ और भी प्रिय है, क्योंकि मेरे पूज्य माता-पिता एवं पूर्वजों की भी जन्म व कर्मभूमि है। मेरी माँ की ननिहाल यहाँ के तुरकारी पारा में स्थित है, तो पिता का बाल्यकाल जहाँ व्यतीत हुआ, वह निवास आज के बख्शी मार्ग में स्थित है। कालांतर में पिता ने तुरकारी पारा में जैन मंदिर के समीप अपना आवास बना लिया था, जहाँ मेरा बचपन सानंद व्यतीत हुआ। सन् 1964 में पिताजी जगदलपुर से प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट के पद से सेवानिवृत हुए और हम सब अपने पैतृक नगर खैरागढ़

आ गए। यहाँ जीवन ने नई अंगड़ाई के साथ नए परिवेश में पदार्पण किया। नए स्कूल में नए साथी मिले। मो. मंजूर, मो. मोबिन, अरुण, घनश्याम, शेख़ रसीद, मो. असीर, अमृत, गौतम, दीपचंद, ध्यानचंद, शशिधर शरणसिंह आदि मित्रों के साथ जीवन चहचहाने लगा।

मंजूर, अरुण, घनश्याम, संतोष और भरत मोहल्ले में ही रहते थे। अरुण निकटतम पड़ोसी थे। अतः हम लोग चौबीसों घंटे के साथी हो गए। साथ में स्कूल जाना-आना और बाक़ी समय में खेलना, घूमना-फिरना और संग पढ़ना, होमवर्क करना। धीरे-धीरे मित्र-मंडली बढ़ने लगी और पूरन, संजीव, शंकर, बालकृष्ण भी हमारी मंडली के सदस्य हो गए। सभी मित्र अनमोल नगीने। अमृत चोपड़ा तत्कालीन विक्टोरिया स्कूल के पहले एमबीबीएस डॉक्टर हुए, फिर अरुण भी चिकित्सक हुए। शेख़ रसीद प्रसिद्ध फुटबाल खिलाड़ी और गोल पोस्ट के पास 'कोहनी से गोल करने' के महारथी। पूरन ने प्राइवेट पढ़ाई कर बी.कॉम. में मेरिट में स्थान प्राप्त कर नगर को गौरवान्वित किया और आज छ.ग. शासन में संयुक्त सचिव के पद पर हैं। संजीव भैया भी संयुक्त सचिव के पद पर रहे तथा विख्यात साहित्यकार, तो बालकृष्ण गुप्ता स्थापित साहित्यकार हैं। कमलकांत पांडेय प्रतिष्ठित अधिवक्ता हैं। ध्यानचंद इंजीनियर होकर मुम्बई में बसे हैं और शंकर 'भेल' भोपाल में कार्यरत हैं।

भागचंद व विमल रायपुर में स्थापित हैं। उन दिनों इनकी दुकान पर बैठकर हम लोग टेस्ट क्रिकेट की कमेंट्री सुना करते थे। दिल्ली के फिरोजशाह कोटला स्टेडियम में ऑस्ट्रेलिया के साथ टेस्ट मैच में एक ही दिन में बीस से भी ज़्यादा विकेट गिरने की ऐतिहासिक पारी की कमेंट्री हम मित्रों ने यहीं बैठकर सुनी थी। सम्भवतः 1970-71 की बात होगी। कल्लू और लाला श्रीवास के सैलून भी हम लोगों की गपशप का बड़ा केंद्र रहे हैं। लाला आजकल राजनीति में सक्रिय हैं। दीपचंद और गौतम चोपड़ा प्रतिष्ठित व्यापारी हैं। गौतम का पेट्रोल पम्प भी है। गौतम से जुड़ा मज़ेदार क़िस्सा है। गौतम, अमृत का हमउम्र 'चाचा' है। आठवीं कक्षा में जगदीश बिसेन सर उसे कक्षा में चाचा नाम से ही पुकारते थे। तब से आज साठ बरस की उम्र तक हम सब मित्र गौतम को चाचा ही कहते हैं।

नित्य शाम को घूमने जाना हमारी मित्र-मंडली की दिनचर्या का अहम हिस्सा था। कभी शिव मंदिर की ओर, कभी सिविल-लाइन का फेरा, तो कभी लाराबन के आम के बाग़ीचे तक जाकर लौटना। किसी दिन बड़े पुल का चक्कर लगाना और कभी तुरकारी पारा में सब्ज़ी के खेतों से गुज़रकर बहती नदिया के बीच चट्टानों पर बैठना, पैरों को पानी में डुबाए रखना और गप्पों में मशग़ूल रहना। याद करके मुझे आश्चर्य होता है कि हम लोगों के पास बात करने को कोई बात नहीं होती थी, फिर भी बातें लगातार होती रहती थीं। पता नहीं क्या-क्या बातें होती थीं, पर हाँ! एक बात तय है कि हम लोगों के मध्य कभी भी अश्लील व ओछी बातें नहीं होती थीं और न ही कभी गाली-गलौज हुई। कभी-कभार कोई मित्र अपने 'रूमानी क़िस्से' ज़रूर सुना दिया करता था। बस,

जीवन हँसी-ख़ुशी व आनंद से व्यतीत हुआ, जो आज भी मनःपटल पर अंकित होकर आनंद का ख़ज़ाना है। हमारी मित्र-मंडली की एक ख़ासियत आज तक बरक़रार है कि हम सब हर प्रकार के नशे से कोसों दूर हैं।

मित्रों के तरह-तरह के मनकों से बनी हमारी सर्वधर्म समभावी मित्र-माला के मुख्य मनके तो मंजूर और मोबिन ही रहे हैं। किसी भी मित्र के परिवार में सगाई, शादी-ब्याह जैसा कोई शुभ कार्य हो या अन्य कोई उत्सव-पर्व- सहयोग के लिए दोनों मुस्तैदी से हाज़िर रहते थे। उत्सवों में पंडाल लगाने से लेकर आगंतुकों के लिए दोना-पत्तल लगाने तक हर काम में इनकी सक्रिय सहभागिता से ही आयोजन की रौनक़ बढ़ती रही है। मित्रों के यहाँ कभी ग़म की बदली छाई, तब भी तन-मन-धन से संग खड़े दिखे। केवल पारिवारिक ही नहीं, सामाजिक व धार्मिक आयोजनों में भी इनके योगदान की 'आहुति' के बिना, कार्य की पूर्णाहुति होती ही नहीं थी।

तत्समय में हम मित्रों ने मिलकर तुरकारी पारा समिति का गठन किया था। प्रमुख उद्देश्य था- सामाजिक व धार्मिक कार्यों का आयोजन। हर वर्ष गणपति और दुर्गा जी की प्रतिमा स्थापना के साथ विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन इस समिति का मुख्य कार्यकलाप था। कार्यक्रम की रूपरेखा से लेकर क्रियान्वयन तक मंजूर भाई प्रमुख क़िरदार होते थे। इन पर्वों में मूर्ति-स्थापना से लेकर विसर्जन तक कोई और सदस्य दिखे न दिखे, उन्हें आप सदा मुस्तैद और सक्रिय पा सकते थे।

ईद के पर्व में एक साथ सेवई-खीर की दावत में आनंद उठाना, तो दिवाली में सभी का एक साथ 'फटाके' चलाना... यह साथ त्योहारों की ख़ुशी मे चार चाँद लगा देता था। होली के हुड़दंगी-रंग में तो पहचानना मुश्किल होता था कि मंजूर कौन तो कौन कृष्ण, मोबिन और घनश्याम है कौन, अरुण पूरन और शेख़ है कौन?

होली में सब एक हुए, कौन राम व कौन रहीम?
ढूंढ़े से भी मिले नहीं, कृष्णा कौन तो कौन करीम?

यह भी एक ईश्वरीय संयोग कि तुरकारी पारा में मंजूर के घर के सामने ही शिव मंदिर है। उसकी देखरेख व नित्य दिया-बाती पर न केवल मंजूर बल्कि अब्बाजी की भी नज़र रहा करती थी। हमारी समिति मंदिर में भी समय-समय पर अखंड रामायण पाठ या रामधुन का आयोजन करती थी, तो चाय मंजूर के घर से ही आती थी।

खैरागढ़ के सर्वधर्म समभावी स्वरूप का सबसे सुंदर उदाहरण मेरी नज़र में तो जन्माष्टमी पर्व पर आयोजित होने वाला दही लूट गोविंदा का कार्यक्रम है। उन दिनों यह आयोजन बड़ी धूमधाम और बहुत मनोरंजक ढंग से प्रतिवर्ष संपन्न होता था और हर वर्ग के सभी नर-नारी, धर्म, जाति-सम्प्रदाय से परे हटकर समारोह का आनंद उठाते थे। नगर के सभी प्रमुख मार्गों में सड़क के

दोनों ओर के आमने-सामने के घरों से रस्सी बाँधकर, ऊँचाई पर दही की हांडी लटकाई जाती थी और पूरी रस्सी की लम्बाई में दस-बीस-पचास-सौ के नोटों के साथ फल आदि लटका दिए जाते थे। दही-लूट करने वाली टोली आनंद व मस्ती के साथ आती, एक के ऊपर एक चढ़कर, ऊँचाई पर लटकी मटकी तक पहुँचने कर प्रयास करती। ग्वाल टोली के सदस्य कई बार गिरते, फिर चढ़ते और अंततः दही लूटने में सफल होते और दर्शक तालियाँ बजाते।

इस दौरान मस्जिद मार्ग का दृश्य तो इंसानी प्रेमभाव का पावन उदाहरण होता था। सड़क के ऊपर से गुज़रने वाली इन रस्सियों का एक छोर उमर के यहाँ, तो दूसरा अमर के यहाँ, कहीं पर एक छोर मो. नसीर के हाथ है, तो दूसरा छोर मो. असीर के यहाँ लोगों ने थाम रखा है। कहीं कोई भेदभाव नहीं, बस आनंद, प्रेम व सद्भाव के रंग में ओत-प्रोत है हर कोई। इसे देखकर तो श्रीकृष्ण भी आनंद विभोर होकर कृपा बरसाते होंगे और परवरदिगार भी खैरागढ़ पर अपनी रहमत की बारिश करते रहे होंगे।

हमारी मित्र-मंडली सन् 1964 से आज पर्यन्त मधुमय और जीवंत है। पिछली आधी सदी में हम मित्रों के मध्य कभी कोई भी विवाद या बहस नहीं हुई। सबसे बड़ी बात जो मैं बताना चाहूँगा कि मज़ाक़-मज़ाक़ में भी हममें से किसी ने कभी भी हिन्दू या मुस्लिम जैसे शब्दों का इस्तेमाल नहीं किया। किसी ने भी कभी यह महसूस नहीं किया कि यह मुस्लिम, तो वह हिन्दू है। हम सब केवल मित्र थे, मित्र हैं और मित्र रहेंगे। हर कोई अपने धर्म-मज़हब का पालन करता है, अपने उत्सव मनाता है और शेष सभी मिलकर उस उत्सव का आनंद बाँटते हैं। हम सब मित्र इस भावना से संचालित हैं- ना तू कहे कि मैं कौन/ ना मैं कहूँ कि तू कौन/ तू और मैं दोनों मिल के/ बस खैरागढ़ की ही तो हैं संतान।

जिस प्रकार चावल के एक-दो दानों को देखकर ही पूरी हांडी के पकने की पहचान होती है, बस उसी प्रकार एक नस्सा-अरुण, मोबिन-घनश्याम, असीर-अमृत, लाडलू-पूरण और शंकर-कृष्णा-मंजूर की यह कहानी समूचे खैरागढ़ के सर्वधर्म समभाव की कहानी है।

लेखक भजनकार हैं और उद्योग विभाग में महाप्रबंधक रहे हैं। सम्पर्क- 9977140044

तक़दीर भी ऐश्वर्यशाली है

***अजय ओसवाल** याद कर रहे हैं खैरागढ़ के ऐश्वर्यशाली अतीत को, जिसमें प्रजा को पहली प्राथमिकता देने वाले राजाओं का योगदान रहा है*

खैरागढ़ की तक़दीर इसकी तस्वीर से अधिक ऐश्वर्यशाली रही है। इसकी मनोरम तस्वीर डेढ़-दो किलोमीटर की परिधि में आमनेर, पिपरिया एवं मुसका नदियों के त्रिवेणी संगम के तट पर आबाद है। वर्तमान में छोटे-छोटे स्थानों ने जो प्रगति कर ली है, खैरागढ़ की नैसर्गिक स्थिति के कारण वह उसे नसीब नहीं हो सकी है। फिर भी खैरागढ़ का इतिहास अति महिमामंडित रहा है, जो इसके समकक्ष स्थानों को मिल पाना सम्भव नहीं हुआ है।

खैरागढ़, छत्तीसगढ़ की नामी रियासतों में से एक रही है, जिसके अंतिम शासक राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह जी रहे हैं। कहने को तो यहाँ राजतंत्र था, किंतु रियासत की कार्यशैली प्रजातांत्रिक ढांचे की थी। राजा साहब के अधीनस्थ ही राजस्वमंत्री, क़ानूनमंत्री, गृहमंत्री आदि हुआ करते थे। खैरागढ़ रियासत में शिक्षा, स्वास्थ्य, खेलकूद आदि पर विशेष ध्यान दिया गया था। नगर का विक्टोरया हाईस्कूल (अब पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय) सन् 1885 से है, जो समूचे छत्तीसगढ़ का दूसरा हाईस्कूल है। इससे पूर्व का हाईस्कूल माधवराव सप्रे हाईस्कूल रायपुर है। स्व. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी विक्टोरिया हाईस्कूल के छात्र रहे हैं, जिन्होंने राष्ट्रीय हिन्दी साहित्य जगत में खैरागढ़ की अमिट पहचान बनाई है। पुराने मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री स्व. पंडित रविशंकर शुक्ल ने इसी स्कूल के प्रधान अध्यापक पद को सुशोभित किया था। इस स्कूल ने ऐसे कई होनहार छात्र दिए हैं, जो न केवल देश में बल्कि विदेशों में भी सितारों की तरह जगमगा रहे हैं एवं खैरागढ़ की पुण्यधरा का नाम रोशन कर रहे हैं। डोंगरगढ़ के स्व. बदरी प्रसाद अग्रवाल विक्टोरिया हाईस्कूल खैरागढ़ के ऐसे पहले छात्र थे, जिन्होंने इलाहाबाद बोर्ड द्वारा आयोजित मैट्रिक परीक्षा की प्रावीण्य सूची में गौरवशाली चौथा स्थान प्राप्त किया था। इसी तरह खैरागढ़ की एक छात्रा

सुश्री श्रीवास्तव ने आर्ट्स विषय के साथ मध्यप्रदेश माध्यमिक शिक्षा मंडल द्वारा आयोजित भोपाल मैट्रिक परीक्षा की प्रावीण्य सूची में प्रथम स्थान पाया था। खैरागढ़ के ही डॉक्टर नेमीचंद चोपड़ा ने भी प्रावीण्य सूची में आठवाँ स्थान बनाया था।

रियासत के भारतीय गणराज्य में विलीन होने के बाद सन् 1956 में स्थापित संगीत कला विश्वविद्यालय निरंतर विकास के सोपान गढ़ रहा है। नगर की इस महत्वपूर्ण पहचान में राजा वीरेन्द्र बहादुर सिंह व महारानी पद्मावती देवी की दानशीलता और दूरदर्शिता का अतुलनीय योगदान है। कुछ वर्ष पूर्व केंद्र शासन ने इस छोटे नगर में केंद्रीय विद्यालय प्रारम्भ कर इस धरती का नाम और मान बढ़ाया है।

खैरागढ़ रियासत ने अवाम के स्वास्थ्य की चिंता कर सन् 1936 में एक विशाल अस्पताल बनवाया था, जो उस ज़माने में भी जनरल वार्ड, पेइंग वार्ड, एक्सरे मशीन, ऑपरेशन थिएटर जैसी सुविधाओं से सुसज्जित था। यहाँ योग्य चिकित्सकों के साथ दवाओं की भी अच्छी व्यवस्था थी। कहा तो यहाँ तक जाता है कि रायपुर जैसे महानगर के लोग भी यदा-कदा अपनी चिकित्सा के लिए खैरागढ़ आया करते थे।

खेलकूद के क्षेत्र में तब खैरागढ़वासी बहुत अधिक रुचि रखते थे। क्रीड़ा गतिविधियों को राजाश्रय प्राप्त था। राजा लालबहादुर क्लब टेनिस, बैडमिंटन, बिलियर्ड्स, टेबल टेनिस जैसे खेलों के लिए सर्वसुविधायुक्त था। आउटडोर खेलों में क्रिकेट व फुटबाल प्रमुख थे। यहाँ बाहर की टीमें मैच खेलने आया करती थीं तथा यहाँ के खिलाड़ी भी मैचों के लिए जाया करते थे। बुजुर्ग बताते थे कि खैरागढ़ में व्यवस्थाएँ अच्छी होने से बाहर गाँवों के खिलाड़ी आने को हमेशा लालायित रहते थे तथा फतेह मैदान हमेशा खिलाड़ियों से पटा रहता था।

खैरागढ़ की धरती ने अपूर्व नेतृत्व क्षमता के धनी व्यक्तियों को जन्म दिया है। स्वतंत्रता के बाद खैरागढ़, डोंगरगढ़ और वीरेन्द्र नगर, तीनों विधानसभा क्षेत्रों के लिए एक ही समय में खैरागढ़ से ही जनप्रतिनिधि हुआ करते थे। राजनांदगाँव-कवर्धा लोकसभा के लिए भी नगर से ही कई बार सांसद निर्वाचित हुए हैं।

खैरागढ़ के अधिकांश पुराने निवासियों के पास कृषि भूमि है। शासकीय छिंदारी सिंचाई परियोजना से खैरागढ़ निवासी लाभान्वित हुए हैं। जिन कृषकों के खेतों में सिंचाई परियोजना का पानी पहुँच से दूर है, उनमें से कुछ ने अपने खेतों में नलकूप कराकर खेतों को जल-सम्पन्न बनाया है।

लेखक वरिष्ठ अधिवक्ता और समाजसेवी हैं। सम्पर्क- 9406245919

छोटे-छोटे लोगों ने बनाया बड़ा

हर खैरागढ़ी एक विशिष्ट क़िरदार है और ऐसे ही बेहद आम व्यक्तियों के स्नेहसिक्त व्यवहार को आधी सदी बाद भी महसूस कर रहे हैं ***संजय यादव***

लगभग आधी सदी पूर्व की अच्छी-बुरी घटनाओं को स्मृति के गहन झरोखों से उबारकर रूपायित अथवा शब्दबद्ध करना सृजन की गहरी पीड़ा से गुज़रने से कम नहीं है। ख़ासकर खैरागढ़ की सामाजिक समरसता, आर्थिक-राजनीतिक प्रगति एवं धार्मिक आस्था से वर्षों दूर रहकर उन बिखरी कड़ियों को जोड़ना, जहाँ खैरागढ़ का वर्तमान जीवंत है और अतीत से उबरकर सार्थकता ढूंढ़ने अपनी उड़ान जारी रखे हुए है।

मेरी स्मृति में खैरागढ़ में फैले चेचक के भीषण प्रकोप की भयानकता भी मौजूद है। उस समय सात-आठ साल की उम्र रही होगी। चेचक एवं इसके पीछे कथित टोनही का आतंक इस हद तक था कि संध्या होते ही जगह-जगह उल्लू की आवाज़ गूंजने लगती थी और लोग रात-रात भर जागकर पहरा देते, 'टोनही' को पकड़ने भागदौड़ करते थे। तब शायद ही कोई परिवार बचा होगा, जहाँ चेचक का प्रकोप न पहुँचा हो। तीन नदियों द्वारा अपनी सीमा में खैरागढ़ की क़िस्मत को बाँधकर रखने से यह बस्ती सिकुड़ी, सिमटी हुई है। यहां की तमाम व्यावसायिक और आर्थिक गतिविधियाँ गोल बाज़ार के गोविंद सेठ एवं मन्ना सिंधी के ठिठोली भरे बोलों से आगे निकलकर, मामा सेठ की दुकान को सजा-सँवारकर और समृद्ध बनाकर पूरे मस्जि़द मार्ग, पुराने एवं नए बस स्टैंड, अस्पताल के आसपास ठाकुर पारा, को-ऑपरेटिव बैंक से आगे तथा ऊपर की ओर बख्शी मार्ग से होकर इतवारी बाज़ार को अपनी आगोश में समेट चुकी है, वही शेष व्यापारिक गतिविधियाँ अमलीपारा-राजनांदगाँव मार्ग में तथा दक्षिण दिशा में नया पुल बनने के बाद दाऊचौरा-देवांगन मोहल्ला की सीमा पार करके नाके की सीमा का अतिक्रमण करने लगी हैं। वर्तमान में खैरागढ़ मुख्य मार्ग में पिपरिया की ओर अधिक विस्तार पा रहा है।

क़स्बाई मानसिकता में जीते 40-45 वर्षों की स्मृतियों के झरोखे से झाँकें, तो उल्लेखनीय कुछ 'विशेष' नहीं है। यहाँ दिन की शुरुआत बस्ती की सड़कों पर पैदल घूमते तथा झांझ-मंजीरे एवं ढोलक के साथ भजनों के माध्यम से ईश्वर आराधना करने वालों के गान से होती थी और तब

लोगों को इस बात का एहसास होता था कि अब दिन निकलने वाला है। इसी तरह संध्या को खेतों के बीच अलग-थलग बने शिवमंदिर एवं बम्लेश्वरी मंदिर के घंटे की सुमधुर ध्वनि मन में अभूतपूर्व शांति की अनुभूति कराती थी, लेकिन अब प्रातः-संध्या की ये ध्वनियाँ कहीं खो गई हैं और अब शांति व संतोष का एहसास नहीं होता।

यहाँ की सामाजिक समरसता में रचे-बसे आत्मीय क्षणों की स्मृतियाँ एहसास कराती हैं कि खैरागढ़ में हिंदू-मुस्लिम विवाद ने कभी पनाह नहीं पाई। यह लेखक स्वयं मुसलमान मित्रों के बीच रहकर ईद में उनके साथ गलबहियाँ लगकर सेवइयाँ खाने और ईदी लेने जाता रहता था। सुखद यह है कि भाईचारे की यह भावना वर्तमान में भी बनी हुई है।

पुराने बस स्टैंड के पास मुस्का नदी के पुराने पुल की ओर जाने वाले मार्ग पर सड़क किनारे विद्युत पोल एवं पुलिए के निकट लगने वाली बाला मुसलमान की मटन दुकान और मछली पसरे को आज के युवक निश्चय ही भूल चुके होंगे। अधिक महत्वपूर्ण न होने के बावजूद यह मेरे स्मृति पटल पर अब तक अंकित है। बाला मुसलमान जिसे मैं चाचा कहता था, अपनी मटन दुकान घर के पास एक झोपड़ीनुमा जगह पर ही लगाता था। पूरी खैरागढ़ बस्ती के लोगों के लिए उसकी दुकान एकमात्र जगह थी, जहाँ उनका पसंदीदा मटन मिलता था। इसी तरह मछली पसरे में मुस्का, अमलीडीह के ढीमर तथा इतवारी बाज़ार से पिपरिया नदी के ऊपर स्थित बस्ती के मछुआरे तथा कंड़रों की बस्ती के लोग मछली बेचने आते थे।

मेरी स्मृति के कोने में पाल बाबू की ग़ज़लें, क़व्वाली के बोल एवं पुराने लोकप्रिय फिल्मी गानों की मधुर तान अब तक रची-बसी हुई है। राजफेमली निवासी अत्यधिक विनम्र तथा नज़ाकत, नफासत प्रतिमूर्ति पाल बाबू मठपारा स्थित पुराने जनपद ऑफिस में मुलाज़िम थे। ठिगने-मझोले क़द के स्वस्थ शरीर वाले गौरवर्ण पाल बाबू का झक सफ़ेद कुर्ता-पायजामा पसंदीदा वस्त्र था। रोज़ाना दफ़्तर का काम ख़त्म करके किलापारा पहुंचने के बाद उनकी वापसी की यात्रा काफ़ी दिलचस्प होती थी। रिक्शे में बैठकर वे बड़े तरन्नुम में गीत-ग़ज़लों एवं पुराने गानों की तान या कहें मधुर स्वर लहरियाँ छोड़ते गुज़रते थे। रिक्शे में जाते समय वे रास्ते में आते-जाते बुजुर्गों एवं हमउम्रों से दुआ-सलाम भी करते चलते थे। वे ज़िंदादिल इंसान तो थे ही, बच्चों से अत्यधिक प्रेम भी करते थे। उनकी जेबों में ढेरों चॉकलेट-पिपरमिंट रहते थे, जिन्हें वे रास्तेभर बच्चों को बाँटते जाते थे। यह लगाव व भावनात्मक प्रेम उनके व्यक्तित्व को विशिष्ट आयाम देता था। इसके चलते बच्चों का हुजूम दादा, टॉफी दो की गुहार लगाते हुए उनके आगे-पीछे दौड़ता रहता था। प्रेम, मानवता, मिलनसारिता की ऐसी बेमिसाल मिसालें अब देखने को नहीं मिलतीं। जाने कब का उनका देहावसान हो चुका है, लेकिन उनकी मधुर स्मृतियाँ मन में आज भी अक्षुण्ण बनी हुई हैं।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और साहित्यकार हैं। सम्पर्क- 9098893529

जो भूल नहीं सकता

*खैरागढ़ को एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में देखते हुए **सूर्यकांत बख्शी** इस नगर के प्रेम भरे वातावरण को अविस्मरणीय बता रहे हैं*

खैरागढ़ नगर मेरी जन्मस्थली के साथ मेरी कर्मस्थली भी रहा है। यहाँ हुए तमाम खट्टे-मीठे अनुभवों के बावजूद मुझे अब तक गर्व है और रहेगा कि मेरा जन्म खैरागढ़ में हुआ। मुझे बहुत पहले से यह महसूस हो रहा है, जिसका ज़िक्र मैंने कई बार किया- प्रेम एक छोटा-सा शब्द है, जो खैरागढ़ से ही बनकर निकला है। मेरा खैरागढ़ संस्कारित, संस्कारवान खैरागढ़ है।

मैं यहाँ की हवा, पानी, मिट्टी की बात करूँ या राजनीति, इतिहास, भूगोल, साहित्य, संगीत की- लगता है, सब शुद्ध और परिष्कृत है। संस्कार माता-पिता, परिवार और गुरु से मिलते हैं, पर खैरागढ़ को संस्कार मिले रियासतकाल में यहाँ के शासकों से। जनता की सुख-सुविधा का पूरा ख़्याल। यहाँ के राजा धार्मिक तो थे ही, दूरदर्शी भी थे। खैरागढ़ के लोग स्वस्थ रहें, प्रसन्न और सुखी रहें, इसका पूरा इंतज़ाम था। पूरे इलाक़े में खैरागढ़ ही तो था, जहाँ नल-जल, बिजली, स्कूल अस्पताल आदि बुनियादी सुविधाओं की उत्तम व्यवस्था थी। वातावरण शुद्ध रहे, इसके लिए पूरे नगर में नीम के पेड़ लगवाए गए थे। खैरागढ़ में खेलों के लिए सुविधाएँ और प्रोत्साहन था, इसलिए यहाँ से अच्छे खिलाड़ी निकले।

यहाँ त्योहारों का आनंद भी अलग ही था। कुछ साल भी खैरागढ़ में बिताने वाले लोग ताज़िंदगी इस जगह को नहीं भूल सकते। खैरागढ़ के लोगों का प्यार नहीं भूल सकते। भला मैं कुछ कैसे भूल सकता हूँ!

मेरा खैरागढ़ बहुत बड़ा हो गया है। अब यह शहर की शक्ल लेने लगा है। बड़ी-बड़ी इमारतें, दुकानें, बाज़ार। पुराने लोग बरसों बाद आते हैं, तब उन्हें मकान और रास्ते ढूंढ़ने में परेशानी होती है। खैरागढ़ में लम्बे समय बाद आने वाले लोग हाईस्कूल, फतेह मैदान, राजमहल जैसी जगहों पर ज़रूर जाते हैं, दंतेश्वरी मंदिर, रुक्खड़ स्वामी मंदिर में दर्शन करते हैं। साथ पढ़ने, साथ काम करने वाले लोगों

से मिलना, यहाँ तक कि कामवाली बाई के घर जाकर दुख-सुख पूछना, यही तो खैरागढ़ का प्रेम है।

कभी किसी ने मुझे खैरागढ़ की दो विशेषताएँ बताई थीं- एक, यहाँ अच्छे लोग रहते हैं और दूसरे, यहाँ जिस व्यक्ति के पास कोई काम नहीं है, वह भी बहुत व्यस्त रहता है। बहरहाल, यहाँ के शासकों, राजा-महाराजाओं की दानशीलता, उदारता, सहिष्णुता, सहजता और सरलता के कई उदाहरण हैं। अब यही खैरागढ़ के संस्कार हैं।

खैरागढ़ की आन, बान, शान और पहचान देश का प्रथम संगीत और कला विश्वविद्यालय है। हमारी यह पहचान निरंतर ऊँचाइयों को छू रही है। हमें इसका फ़ायदा इस रूप में मिला कि हमारा नगर हमेशा सुर, ताल और लय में रहता है। खैरागढ़ रमणीय है, प्रगति में है, लोग सम्पन्न हैं। खैरागढ़ चारों तरफ़ नदियों से घिरा था, लेकिन अब यह चारों तरफ़ फैल रहा है, नदियों के पार भी।

अपने-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ और महान लोग खैरागढ़ में हुए, जिन्हें भूल पाना सम्भव नहीं है। व्यक्तिगत रूप से किसी नाम का ज़िक्र इसलिए नहीं करता, क्योंकि किसी भी नाम का उल्लेख भूल से न हो पाए, ऐसी ग़लती मैं नहीं करना चाहता। अतिथि सत्कार भी खैरागढ़ की ख़ासियत है। मिलनसार स्वभाव, सहयोगी और सुख-दुख के साथी लोग हैं।

मेरे दादाजी स्व. बैनलाल बख्शी क्षेत्र के अच्छे वकील माने जाते थे। रियासत काल में राजा साहब के तीन मंत्रियों में वे भी एक थे। दादाजी संगीत और रामायण प्रेमी थे। उनके छोटे भाई साहित्य वाचस्पति डॉ. बख्शी पढ़े तो बीए तक थे, परंतु एमए के पाठ्यक्रम में न केवल उनकी पुस्तकें चलती थीं, बल्कि पढ़ाते भी थे। मेरे पिता स्व. रमाकांत बख्शी थे तो शिक्षक, परंतु उनका योगदान नाटकों में ज़्यादा रहा और यही कारण है कि उन्हें प्रथम छत्तीसगढ़ी फिल्म 'कहि देबे संदेस' में काम करने का मौक़ा मिला। मैंने अपने परिवार के बारे में जो लिखा, कारण सम्मान था। उनका योगदान खैरागढ़ के लिए रहा। महत्वपूर्ण हस्तियों में आज भी उन्हें याद किया जाता है। उनका अर्जित किया हुआ मान-सम्मान प्रसादरूप में बख्शी परिवार को अब भी मिलता आ रहा है। यह सम्मान भी खैरागढ़ की ख़ासियत है। कई मोहल्लों और वार्डों में बंटा खैरागढ़ सबको जोड़ता है। बाहर से आकर भी बहुत-से लोग अब खैरागढ़ी हो गए हैं, अब वे ख़ुद को बाहर का नहीं मानते। यहाँ लोग बढ़े हैं, मकान-दुकान बढ़े हैं, व्यवसाय बढ़ा है, ट्रैफिक बढ़ा है, भीड़ बढ़ी है, जो पहले छोटे थे अब बड़े हो गए हैं, बुजुर्ग हो गए हैं। पुराने भवनों का जीर्णोद्धार हो रहा है, नए स्वरूप में नए भवन बन रहे हैं। 20-25 साल बाद आने वाले ढूंढ़ेंगे कि कहाँ है सराय भवन, नगरपालिका कार्यालय, ब्लॉक ऑफ़िस। सब नया। बस स्टैंड नया हो गया, शानदार गार्डन बन गया। खैरागढ़ का स्वरूप समय के साथ भले ही बदल जाए, लेकिन यहाँ के लोगों का प्रेम व्यवहार, सरलता, सहजता, सद्भाव तो वैसा ही रहेगा- क्योंकि मेरा खैरागढ़ संस्कारवान है।

लेखक सेवानिवृत्त बैंककर्मी और कवि हैं। सम्पर्क- 9425566116

संगीत का स्वर्ग है यह शहर

*सीमित अरसे के लिए यहाँ रहे **डॉ. महेश परिमल** को इस माटी ने इतना प्रभावित किया कि अब भी वे इसे माथे से लगाते हैं*

खैरागढ़, यह ऐसा ऐसा शहरनुमा क़स्बा है, जहाँ संगीत की स्वर लहरियाँ ऐसे गूँजती हैं, मानो हम किसी संगीत के सागर में डूब रहे हों। जी हाँ, संगीत का ककहरा न जानने वाले भी यहाँ आकर संगीत के सागर में डूब जाते हैं। यहाँ के लोगों की रग-रग में बसा है संगीत। पूरा शहर एक लय में चलता हुआ दिखाई देता है। इस संगीत नगरी में आना किसी वरदान से कम नहीं है। यहाँ का इंदिरा कला एवं संगीत विश्वविद्यालय पूरे देश में जाना जाता है। इस विश्वविद्यालय ने आसपास के लोगों को अनजाने में ही संगीत का रसिया बना दिया है। संगीत प्रेमियों के लिए तो यह स्वर्ग है, जहाँ सुर साधे जाते हैं। सुर लहरियाँ यहाँ की फ़िज़ा में महकती रहती हैं। कभी यहाँ के लोगों को चलता हुआ देखें, तो आप महसूस करेंगे कि उनकी चाल में भी एक रिदम है।

फरवरी 1977 में पहली बार खैरागढ़ जाने का अवसर मिला। पहली बार उस शहरनुमा क़स्बे को देखा। दोपहर में पहुँचा था, इसलिए उस समय उतना आकर्षित नहीं हुआ। पर शाम को ऐसा लगने लगा, मानो कहीं सुर सरिता बह रही है। उस ध्वनि ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। रात को अच्छी नींद आई। पर भोर में तो ऐसा लगा कि कहीं बहुत पास से मृदंग की सुमधुर ध्वनि आ रही है। सचमुच ऐसा लगा कि मैं किस लोक में आ गया? मुझमें संगीत की ज़रा भी समझ नहीं है। संगीत सुनना अच्छा लगता है। पर कभी कोई संगीत अपनी लय छोड़ देता है, तो मुझे खटका लग जाता है। ताल से कोई बेताला होता है, तो मैं तुरंत टोक देता हूँ। इसी कारण भोर में मृदंग की आवाज़ ने भीतर से हिला दिया। मृदंग की थाप मुझे भीतर से झकझोर रही थी, मैं उसकी थाप में स्वयं को भूलने लगा। सुबह सुहानी होती है, यह पहली बार जाना। अभी सूरज ने अपनी रश्मियाँ बिखेरी भी

नहीं थी कि अन्य वाद्य यंत्रों की ध्वनि वहाँ गूँजने लगी।

कुछ दिन गुज़ारने के बाद जाना कि यहाँ के लोग संगीत के प्रति पूरी तरह से समर्पित भी हैं। विश्वविद्यालय में पढ़ाने वाले संगीत शिक्षक पूरी तरह से संगीत में डूबे होते थे। किसी मित्र का संस्मरण है कि एक बार विश्वविद्यालय परिसर में कुछ संगीतज्ञ विचार-विमर्श कर रहे थे। तभी राग मल्हार पर चर्चा होने लगी। सभी को पता था कि इस राग से वर्षा होती है। पर कुछ लोग इसे मानने को ही तैयार नहीं थे। भला राग से वर्षा हो भी सकती है, वह भी बेमौसम। तभी एक शिक्षक ने राग मल्हार गाना शुरू किया। लोगों ने देखा कि वह बारिश का मौसम नहीं था, फिर भी बादल घिर आए थे। तब लोगों ने समझा कि सचमुच मल्हार में पानी बरसाने की ताक़त है।

इस तरह से खैरागढ़ को लेकर कई संस्मरण हो सकते हैं। पर मेरा अनुभव ही कुछ और था। वहाँ एक बात और देखी। पुराने बस स्टैंड में जो होटलें थीं, उनमें जब भी पकौड़े बनाए जाते, जब तेल भरी कड़ाही में तैयार पकौड़े झारे से निकाले जाते, तो उसमें भी एक रिदम था। यह बात वहाँ रहने के दो दिन बाद ही समझ में आई।

अब खैरागढ़ तो जाना नहीं होता, पर राजनांदगाँव से छुईखदान या गंडई पंडरिया जाते समय बस कुछ समय के लिए खैरागढ़ में रुकती है, तो एक बार बस से उतरकर वहाँ की माटी को माथे से लगाना नहीं भूलता। बाक़ी अब खैरागढ़ वैसा है या नहीं, इस पर कुछ नहीं कह सकता। पर जो खैरागढ़ मेरी यादों में बसा है, वह पूरी तरह से संगीतमय है। जो संगीत की शिक्षा ही नहीं देता, उसे हृदय से स्पर्श कराता-सा लगता है। संगीत की उस पावन भूमि को शत-शत नमन्।

लेखक वरिष्ठ पत्रकार और साहित्यकार हैं। सम्पर्क- 09977276257

पवित्र परम्परा के प्रतिपोषक

*इस माटी के लोगों के सामाजिक सरोकारों और गुणों के सम्मान की सुदीर्घ परम्परा के बारे में बता रहे हैं **विनय शरण सिंह***

संभवतः 2010 की बात है। अगस्त की एक शाम राह चलते मेरी मिहिर झा से मुलाक़ात हो गई। अनौपचारिक बातचीत के क्रम में मैंने उनसे कहा, 'वकील साहब, लगता है इस वर्ष नगर में कहीं शिक्षकों के सम्मान के लिए किसी समारोह का आयोजन नहीं हो रहा है।' झा साहब बोले, 'ऐसा क्या?' मैंने कहा, 'हाँ, देखिए यह अगस्त का अंतिम सप्ताह चल रहा है और अभी तक कहीं से किसी तरह के आयोजन की कोई सूचना नहीं है।'

झा साहब थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले, 'यदि ऐसा है तो देखते हैं, हमारी संस्था की ओर से कुछ हो सकता है क्या। मैं आपको ख़बर करूँगा।' बात वही समाप्त हो गई। झा साहब अपने रास्ते पर आगे बढ़ गए और मैंने अपनी राह ली।

उसी रात झा साहब का फोन आया, 'आप कल सुबह मेरे घर आइए। मेरी बघेल साहब (सचिन सिंह बघेल) से बात हुई है। आयोजन के लिए उनकी सहमति मिल गई है। आयोजन की रूपरेखा क्या होगी, यह तय कर लेते हैं।'

यह उस पवित्र परम्परा के पुनः आरम्भ की भूमिका थी, जो खैरागढ़ के नागरिकों के संस्कारों में रची-बसी है। तब से प्रति वर्ष पाँच सितम्बर को शिक्षक दिवस के अवसर पर नगर की प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था विवेकानंद पब्लिक स्कूल के रम्य वातावरण में शिक्षक सम्मान समारोह का आयोजन किया जाता है। इस स्कूल का संचालन यहाँ की 'माँ दंतेश्वरी शिक्षण समिति' करती है। सचिन सिंह बघेल इस समिति के अध्यक्ष और मिहिर झा सचिव हैं। श्री बघेल राजनांदगाँव के अग्रणी तकनीकी शिक्षण संस्थान अशोका इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलाजी के डायरेक्टर भी हैं। जब से श्री बघेल व श्री झा ने इस पुण्य-आयोजन का बीड़ा उठाया है, तब से इसके स्वरूप में उत्साहवर्धक परिवर्तन

परिलक्षित हो रहा है। पूर्व के आयोजनों में केवल सेवानिवृत्त शिक्षकों का सम्मान किया जाता था, अब इनके साथ सेवारत उत्कृष्ट शिक्षक-शिक्षिकाओं का भी सम्मान किया जाता है। श्री बघेल कई बार दुहरा चुके हैं कि शिक्षकगण सहयोग और सुझाव दें, तो वे इस आयोजन को और व्यापक एवं भव्य स्वरूप देने के लिए तैयार हैं।

यों हमारे नगर में शिक्षक-सम्मान कार्यक्रमों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। बहुत पहले यह आयोजन यहाँ का शिक्षक संघ करता था। संघ के पदाधिकारीगण परस्पर एवं अन्य शिक्षकों से सहयोग राशि एकत्रित करते और शिक्षक दिवस के अवसर पर सेवानिवृत्त शिक्षकों का सम्मान करते थे। सन् 98 से यह दायित्व लायंस क्लब ऑफ खैरागढ़ ने अपने ज़िम्मे लिया। श्री बघेल व श्री झा इस सेवाभावी संगठन के उत्साही तथा समर्पित सदस्य थे। कुछ वर्षों तक यह क्रम अबाध रूप से चला। फिर सम्भवतः निश्चित कालावधि के पश्चात क्लब के नए सिरे से गठन की प्रक्रिया पूर्ण न हो पाने के कारण इसकी गतिविधियों पर विराम लग गया।

इसी बीच 2007 में 'मानवोदय संस्था' का उदय हुआ। रामकुमार सिंह इसके संरक्षक थे। इस संस्था ने लगातार तीन वर्षों तक सेवानिवृत्त शिक्षकों के सम्मान के साथ-साथ कुछ विशिष्ट सेवारत शिक्षकों का सम्मान किया। किंतु 2009 के आते-आते इस संस्था का अस्तित्व भी विलोपित-सा हो गया। परंतु वर्तमान में पुनर्जीवित यह परम्परा सतत रूप से जारी रहेगी, इस सम्बंध में अंचल का शिक्षक-समुदाय पूर्णतः आश्वस्त है। श्री बघेल और श्री झा इस हेतु कृत-संकल्प हैं, यह आयोजनों में उपस्थित शिक्षकों ने बार-बार महसूस किया है। यूँ तो दोनों ही दो अलग-अलग विचारधाराओं वाले राजनैतिक दलों के प्रतिबद्ध व कर्मठ पदाधिकारी हैं, परंतु इन आयोजनों का सर्वाधिक प्रशंसनीय पहलू यह है कि इन्होंने इसे कभी राजनैतिक मंच नहीं बनने दिया। यहाँ तक कि समारोह में आमंत्रित अतिथि भी पूर्णतः गैर-राजनैतिक क्षेत्र के होते हैं।

यहाँ एक नाम और बहुत आदर व श्रद्धाभाव के साथ स्मरण में आ रहा है, जो बीच-बीच में गुरुजनों के सम्मान कार्यक्रमों से जुड़ते रहे हैं। लाल लक्ष्मीनारायण सिंह नगर के ऐसे समाजसेवी हैं, जो अपने व्यावसायिक उपक्रम, जय मोटर्स राजनांदगाँव के बैनर तले कई बार शिक्षकों को सम्मानित कर चुके हैं।

यों शिक्षक किसी सम्मान का मोहताज नहीं होता। उसका सबसे बड़ा पुरस्कार उसके छात्र हैं। उसके द्वारा दिए गए वे संस्कार हैं, जो विद्यार्थियों को एक ज़िम्मेदार नागरिक बनने में मदद करते हैं। इन सबके बावजूद ये आयोजन इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हमारे बीच आज भी ऐसे लोग हैं, जो अपने सामाजिक दायित्व को भलीभांति समझते हैं। लक्ष्मीनारायण सिंह, सचिन बघेल और मिहिर झा जैसे लोगों के रहते समाज अपने दायित्व से कभी परांगमुख हो भी नहीं सकता।

लेखक शिक्षा जगत से जुड़े हैं और चर्चित साहित्यकार हैं। सम्पर्क- 9406035489

जो है पीढ़ियों की बुनियाद

*विक्टोरिया स्कूल के बहाने खैरागढ़ की बौद्धिक पहचान की चर्चा करते हुए **राजेश श्रीवास्तव** इस पहचान को संवारने का आह्वान कर रहे हैं*

तीन नदियों से घिरे खैरागढ़ की भौगोलिक विशेषताएँ न केवल इसे वर्तमान छत्तीसगढ़ के बाक़ी शहरों से अलग करती हैं, बल्कि यहाँ की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत भी इसे देश के नक़्शे में एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। नेशनल एकेडमी ऑफ़ स्टेटिस्टिकल एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली में प्रशिक्षण सत्र के दौरान भोपाल से विवेक का संदेश प्राप्त हुआ कि खैरागढ़ से सम्बंधित संस्मरणों का संकलन विद्यार्थी जीवन में मेरे श्रद्धेय शिक्षक और साहित्य प्रभारी बालकृष्ण गुप्ता के सम्पादन में प्रकाशित होने जा रहा है, तो खैरागढ़ से लगभग 1,350 किलोमीटर दूर मेरी यादों के अनेक सुनहरे पल मस्तिष्क में उमड़ने लगे।

वैसे तो खैरागढ़ की अनेक यादें मेरे स्मृति पटल पर अंकित हैं, किंतु विक्टोरिया स्कूल में छात्र जीवन के सुनहरे पल मुझे भावनात्मक रूप से आज भी सर्वाधिक प्रभावित करते हैं। यह भावनात्मक लगाव तब कई गुना और बढ़ जाता है, जब मुझे याद आता है कि छात्र जीवन के दौरान न केवल एक मज़बूत बुनियाद इसी संस्था से प्राप्त हुई, वरन इतिहास और विरासत को संजोकर भविष्य निर्माण की सारी प्रक्रियाएँ जुलाई 1982 से अप्रैल 1989 तक इस शाला के विद्यार्थी के रूप में मैंने सम्पन्न की थीं। मेरे दादाजी भी इसी विद्यालय के छात्र रहे और उन्होंने अपनी सर्विस लाइफ़ भी इसी संस्था से सन् 1920 में शुरू की थी। मेरे पिताजी ने भी इसी संस्था से स्कूली शिक्षा प्राप्त की और यहीं से प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए।

विगत दो दशकों से शिक्षा और नौकरी के चलते मैं खैरागढ़ से दूर हूँ, किंतु इस अवधि में मुझे खैरागढ़ के बदलते स्वरूप को नई रोशनी में जानने और देखने का मौक़ा मिलता रहा है। विगत दिनों खैरागढ़ प्रवास के दौरान मैं अपने पुत्रों प्रांजल व श्रेयश को अपना स्कूल दिखाने ले गया, तब

अनायास ही स्कूल की टूटी हुई चारदीवारी को देखकर श्रेयश ने मुझसे पूछा कि स्कूल की बाउंड्रीवॉल क्यों गिर गई है? मैंने जवाब दिया कि खैरागढ़ शहर का विकास हो रहा है, इसलिए सड़कें चौड़ी करने बाउंड्री की दीवारें तोड़ दी गई होंगी। मेरी बात से असहमति जताते हुए बड़े पुत्र प्रांजल ने कहा कि विकास हो रहा है, तो स्कूल की बाउंड्रीवॉल क्यों तोड़ी जा रही है?

बच्चों की बातों से मुझे यह सोचने पर बाध्य होना पड़ा कि क्या हम विरासत को सुरक्षित रखते हुए विकास की कल्पना नहीं कर सकते? क्या विकास को केवल ढाँचागत विकास से जोड़ना है, अथवा विकास हमारी संवेदनाओं से भी जुड़ा होना चाहिए। निश्चित रूप से मुझे ऐसा लगता है कि 130 वर्षों से खैरागढ़ के शैक्षणिक गौरव की धरोहर इस स्कूल की बाउंड्रीवॉल सम्भवतः जिस सम्मान की पात्र थी, वह उसे प्राप्त नहीं हो सका। मुझे इन अवशेषों के पीछे सुदृढ़ता से खड़ी स्कूल की ऐतिहासिक इमारत कुछ कहते हुए नज़र आ रही थी। शायद कहना चाह रही थी कि जिन चारदीवारियों ने शहर की कई पीढ़ियों को अपने पहलू में बिठाकर शिक्षा दी है, योग्य बनाया है, वे अब भी इतनी मज़बूत हैं कि विकास की आंधी उनके अस्तित्व को प्रभावित नहीं कर सकती।

विद्यालय परिसर में पंडित रविशंकर शुक्ल और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की प्रतिमाओं को देखकर मुझे स्मरण हुआ उन गौरवमय पलों का, जब स्कूल के सौ वर्ष पूर्ण होने पर आयोजित शताब्दी समारोह में इन प्रतिमाओं का अनावरण किया गया था। कालांतर में विक्टोरिया स्कूल आदर्श शासकीय बहुउद्देशीय स्कूल कहलाया, फिर उसके नाम में बख्शी जी का नाम भी जुड़ा।

यादों की इसी कड़ी में स्कूल के दिनों के वे क्षण कभी नहीं भूलते, जो विशाल वृक्षों की छाँव में असेम्बली के दौरान बिताए थे। असेम्बली में एकत्र हज़ारों छात्रों को ये वृक्ष अनवरत यह संदेश देते थे कि कोई पेड़ चाहे कितना भी विशाल क्यों न हो जाए, वह उस मिट्टी से जुदा होकर कभी जीवित नहीं रह सकता, जिसमें उसका पालन-पोषण हुआ है। 1985 में नई शिक्षा नीति के लागू होने के बाद देश में शिक्षा के मूलभूत स्वरूप में व्यापक परिवर्तन हुए थे। शिक्षक एवं छात्रों को परिवर्तन के उस दौर से गुज़रना एक बड़ी चुनौती थी। मुझे याद है कि उस दौर की चुनौतियों को स्वीकार कर विषय विशेषज्ञ शिक्षक अपने मूल विषय के साथ अन्य विषयों का अध्यापन पूर्ण निष्ठा के साथ करते थे। कला संकाय के हीरालाल अग्रवाल जहाँ गणित का अध्यापन भी करते थे, वहीं विज्ञान संकाय के बालकृष्ण गुप्ता स्कूल के साहित्य प्रभारी थे। शताब्दी समारोह के आयोजन में उन्हीं के संयोजन में हम लोगों ने इप्टा की खैरागढ़ इकाई के सहयोग से बरगद बरगद कुत्ता नामक नाटक का मंचन किया था।

छात्र जीवन में मुझे जिन अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त हुई, उनमें एस.के भरतद्वाज, जीपी तिवारी, विपिन गुप्ता, शंकर दयाल बैस, प्रभाकर राव एवं बिलकीश मैडम आज भी मुझे याद आते हैं। प्राइमरी शिक्षा के दौरान अहमद ख़ान एवं अशोक पाठक ने प्राइमरी स्कूल क्रमांक एक में जो मूलभूत शिक्षा प्रदान की, वह आज भी मेरे जैसे अनेक छात्रों के ज़ेहन मे अमिट छाप छोड़े हुए है। छात्र

जीवन में मुझे अपने सभी शिक्षकगण से असीम प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, जिसके लिए मैं उन सभी के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

बहरहाल, विक्टोरिया स्कूल का विज्ञान भवन जिसे खैरागढ़ नगर के अनेक साहित्यिक, शैक्षणिक और प्रशिक्षण कार्यक्रमों की मेज़बानी का गौरव प्राप्त है एवं ली हॉस्टल जिसे अनेक प्रतिभाओं को पनाह देने के साथ अवकाश के दिनों में अनेक बरातों की मेज़बानी का भी अनुभव है, निश्चित रूप से मेरे शहर की धरोहर हैं। यदि बात खैरागढ़ की हो और ज़िक्र इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय का न हो, ऐसा नहीं हो सकता। खैरागढ़ ने जिन कारणों से शिक्षा, कला एवं साहित्य में प्रतिमान स्थापित किए थे, क्या उन धरोहरों की रक्षा के लिए हमारी संवेदनशीलता कुछ कम हो रही है, इसका उत्तर हमें शीघ्र खोजना होगा।

स्कूल के पीछे बहने वाली मुस्का नदी ने बड़े गर्व से अपनी गोद में अनेक विभूतियों को जन्म लेते और पनपते हुए देखा। विगत दिनों केंद्रीय सांख्यिकी संगठन, नई दिल्ली द्वारा जारी आँकड़ों से मुझे ज्ञात हुआ कि केंद्र सरकार शिक्षा के क्षेत्र में सकल घरेलू उत्पाद का चार प्रतिशत ख़र्च करने जा रही है। तदनुरूप राज्य सरकारें भी शिक्षा पर व्यय का प्रतिशत बढ़ाएँगी, किंतु एक प्रश्न जो बार-बार हमें उद्वेलित करता है कि क्या सिर्फ़ आर्थिक निवेश से हम शिक्षा के क्षेत्र में एक शक्ति बनकर उभर सकते हैं या फिर हमें शैक्षिक क्षेत्र में आर्थिक निवेश के साथ बौद्धिक निवेश को भी बढ़ाना होगा?

मुझे भी इंतज़ार है उस पल का, जब मुस्का गर्व से मुस्करा कर कह सके कि उसके आँचल में बसे शिक्षा के मंदिर का अतीत जितना अच्छा था, वर्तमान उससे भी अच्छा है और भविष्य और भी अच्छा होगा।

लेखक केंद्र सरकार में अधीक्षण अधिकारी हैं। सम्पर्क- 9425558509

टूटे पत्ते में दिखा मेरा अक्स

***अमित स्वप्निल** के लिए खैरागढ़ वह सुनहरा दौर है, जो पीछे छूट चुका है। इस दौर को वे क़िस्सागोई की शैली में बयान कर रहे हैं*

वह मामूली-सा पीपल का पेड़ है। सड़क किनारे, हनुमान मंदिर के पास सालों से मौजूद, साक्षी की तरह सबको निहारता। डॉ. राही मासूम रज़ा के 'नीम का पेड़' जैसा साहित्यिक रुतबा उसे हासिल नहीं है। वह उतना नामचीन नहीं है, लेकिन उसने भी कई पीढ़ियों को मिट्टी में खेलते, पलते-बढ़ते और मिट्टी में ही मिलते देखा है। उसका विशाल क़द किसी बड़े-बुजुर्ग की मौजूदगी का एहसास कराता। कभी-कभी वह पालथी मारकर बैठा दिखाई पड़ता, जिसकी ज़मीन से लगी, इधर-उधर फैली जड़ें, दादी-नानी की गोदी-सी महसूस होतीं। इसी पेड़ के साए में उसका बचपन भी परवान चढ़ा था। इसके पास मैदान में वह अपने दोस्तों के साथ खेला करता था। धूप में, छाँव में, बारिश में... हर मौसम में, हर तरह के खेल। किलापारा में यह जगह उन बच्चों के लिए स्वर्ग जैसी थी।

मंदिर के चबूतरे पर ठेठ छत्तीसगढ़ी में गप्पें मारते लोग, स्थानीय कामचलाऊ होटल में आमनेर से लगी भट्टी से 'पीकर' आए कुछ मदहोश, 'सेठघर' में किसानों-बैलगाड़ियों का मजमा... हो-हल्ला, शोरगुल... 90 के दशक के किलापारा की यही तस्वीर थी। खैरागढ़ के इस बाहरी इलाक़े में एक-दो धनवान परिवारों को छोड़ दें, तो मध्यम, निम्न-मध्यम परिवार ही ज़्यादा थे। यह अपेक्षाकृत शांत मोहल्ला था, जहाँ शहर के पंगे, गुटबंदी गप्पों तक ही सीमित थी। लोग-बाग जितनी बिंदास तबीयत के थे, उतने ही उत्सवधर्मी भी। गणेश चतुर्थी, सरस्वती-पूजा जैसे सार्वजनिक उत्सव में तो पूरा मोहल्ला ही संयुक्त परिवार में बदल जाता। मध्यम व निचले तबक़े के बीच का यह अपनापन ही किलापारा की आत्मा थी।

बस्ती से दूर बसे पारा-मोहल्लों में सामान्यतः उतनी बसाहट नहीं होती। किलापारा भी इसका अपवाद न था। फैले हुए इस खुले इलाक़े में दो-ढाई सौ मकान ही रहे होंगे। मुख्य सड़क के एक तरफ़ बड़े हिस्से को 'नगरसेठ' की हवेली ने घेरा था। इस तरफ़ अंदर की ओर कई मकान थे, जबकि दूसरी

ओर ख़ाली जगहों के बीच-बीच में इक्का-दुक्का घर तथा होटल-पान व सायकिल स्टोर जैसी कुछ बेतरतीब दुकानें थीं। थोड़ा आगे, हनुमान मंदिर के पास वह पीपल था, यहीं वह पला-बढ़ा, हँसा-रोया था। वहाँ के मंदिर, मैदान, मकान सभी उसके बचपन के गवाह थे। उसका जुड़ाव वहाँ की हर चीज़ से था। 'पीपल के पत्तों से छन-छनकर आतीं सूर्य की किरणें... ऊपर पेड़ में कहीं, एक डाल से दूसरी पर कूदते बंदर... पक्षियों की चहचहाहट... माहौल में रची-बसी धूप-अगरबत्ती, चंदन की ख़ुशबू... असमतल मैदान में भागम-भाग, चिल्ल-पौं... '

उफ ! क्या जगह थी, जाने कैसा जादू था ! वहाँ पहुँचते ही उसके भीतर कहीं हज़ारों गुलाब खिल उठते। अपने दोस्तों के साथ वो ख़ूब धमा-चौकड़ी मचाया करता। वह मैदान उन बच्चों के लिए लॉर्ड्स या ईडन गार्डन से कम न था। स्कूल से आते ही वह उनका अखाड़ा हो जाता। क्रिकेट, फुटबाल, बैडमिंटन ही नहीं, गिल्ली-डंडा, भौंरा, गड़ंची, टिल्लस, चित-पट, बाँटी, पिट्टुल, छु-छुऔल, उलानबाटी, लंगड़ी, रेस-टीप जैसे निरे देशज खेल भी खेले जाते। यहाँ तक कि लड़कियों के साथ उसने बिल्लस भी खेली थी।

तीज-त्योहार, शादी-ब्याह में यह जगह और गुलज़ार हो जाती। होली में बच्चे यहाँ ख़ूब मस्ती करते। वह भी ख़ूब हुड़दंग मचाता, भाग-भागकर रंग लगाया करता। गणेशोत्सव के समय मंदिर के चबूतरे में महफ़िल जमती, दोस्तों के साथ सजावट के लिए वह ताव का तोरण बनाता। इन दिनों रात में, मैदान में ही वीसीआर से वीडियो दिखाया जाता था। अपने घर से बिछाने के लिए बोरे-दरी लेकर पूरा मोहल्ला वहाँ जमा हो जाता। पिक्चर देखने के लिए वह भी झटपट पढ़ाई कर, अपनी सीट पक्की कर लिया करता था।

यह 83-84 की बात है। यह वह दौर था, जब भूमंडलीकरण की शुरुआत नहीं हुई थी। भौतिक-विकास का रथ धीमी गति से चल रहा था। कार-एसी जैसी लक्ज़ीरियस चीज़ें मध्यमवर्ग की पकड़ में नहीं आ पाई थीं, इक्का-दुक्का घरों में ही टीवी थे। चीज़ें सीमित थीं, सुविधाएँ कम। लेकिन उन बच्चों को तो जैसे इससे कोई सरोकार न था। हर छोटे-बड़े मौक़े पर ख़ुशियाँ बीनते हुए, धीरे-धीरे बड़े हो रहे थे वे। खेलना, खाना और पढ़ना... यही तीन काम उनके पास थे।

छुटपन की मस्तानी फितरत से वह भी लबरेज़ था। उसकी उम्र छह-सात साल रही होगी। दिखने में दुबला-पतला, अन्य चंचल बच्चों जैसा ही था। वह जितना नटखट था, उतना ही ज़िद्दी भी। माहौल के मुताबिक़ ढलने के बजाय मन की किया करता, इसीलिए ज़्यादा डाँट भी उसके हिस्से आती। खैरागढ़ उसकी मातृभूमि भी थी और जन्मभूमि भी। सेठघर के सामने मामा के मकान में वह रहता था। मम्मी यहाँ शिक्षिका थी, इसीलिए उसकी परवरिश भी यहीं हो रही थी। वैसे तो उसके टिंकू, दीपक, आलोक, काजू, गुड्डा, संतोष जैसे कई दोस्त थे, लेकिन गुड्डू और राजू से उसकी गाढ़ी छनती थी। ये उसके जिगरी दोस्त थे। गुड्डू जहाँ चतुर था, वहीं राजू सीधा। गुड्डू में स्मार्टनेस थी, समय की नब्ज़ पहचान कर चलता। उसका अड़ना-झुकना, बदमाशी करना-सीधा बन जाना... सब समय के हिसाब से होता,

इसलिए वह ज़्यादा तारीफ़ें पाता। राजू स्वभाव से शांत था, मुँह में मिश्री, दिमाग़ में बर्फ़। हर माहौल में ढल जाने वाला, हर रंग में पानी जैसा मिल जाने वाला।

वे तीनों 'भगवान' थे... 'ब्रह्मा, विष्णु, महेश'। उसे शुरू से भगवान शंकर का व्यक्तित्व पसंद आता था, एक बार खेल-खेल में उसने कहा- 'मैं तो शिवजी बनूँगा। मुझे वे बहुत अच्छे लगते हैं। उनके गले में नाग, त्रिशूल, जानवर की खाल, सब-कुछ मुझे भाता है।' गुड्डू को ख़ूबसूरत पहनावा आकर्षित करता था। वह बोला- 'मैं तो विष्णु को लूँगा। वे बहुत सुंदर हैं, उनके वस्त्र मुझे अच्छे लगते हैं।' रह गए, ब्रह्मा... वो राजू के हिस्से आए। उसने बिना किसी ना-नुकर ब्रह्मा बनना स्वीकार कर लिया। इस तरह वे 'त्रिदेव' बने थे।

वे तीनों बहुत खुराफ़ाती थे। मोहल्ले का एक व्यक्ति उन्हें पसंद न था, तो उसे सामने ही चिढ़ाते, अपनी स्टाइल में। वे कहते- 'लासा त्ताकु है'। मज़े की बात, वह व्यक्ति शब्दों को इस तरह उल्टा बोलने को समझ नहीं पाता था। माहौल की गम्भीरता को ठेंगा दिखाते हुए, तीनों कहीं भी, कुछ भी कर सकते थे। एक बार मोहल्ले के एक मकान में वे पिक्चर देख रहे थे। एके हंगल को विशिष्ट तरीक़े से 'काका' पुकारा गया। बस! वे तीनों दाँत दिखाने लगे। जाने कितने दिन तक वह 'काकाआआआआआह!' उनकी ज़बान पर चढ़ा रहा।

उन तीनों में लड़ाई भी ख़ूब होती, लेकिन जल्द ही 'खट्टी' से 'मिट्ठी' भी हो जाती। बाल-सुलभ राग-द्वेष, छल-कपट सबकुछ उनमें था, लेकिन एक-दूसरे के लिए दिल भी उतने ही अपनेपन से धड़कता था। एक बार उसे 'छोटी माता' आई थी, वो लम्बे बेड-रेस्ट पर था। गुड्डू उसके पास आया, बोला- 'चिंता मत कर, स्कूल में जो भी पढ़ाया जाएगा, मैं बता दूँगा। रोज़ मेरी कॉपी ले लेना।' एक बार कम्पास बॉक्स ख़रीदने के लिए मिले पाँच-सात रुपए उससे गुम हो गए। वह रो रहा था, राजू पसीज उठा... कहने लगा- 'यार! मेरे पास इतने पैसे तो नहीं हैं, लेकिन एक रुपए बोलेगा तो मैं दे दूँगा।'

ऐसे ही खट्टे-मीठे पलों के बीच वे आठवीं में पहुँच गए। अब उन्हें 'हाफपेंट' अखरती थी, वे फुलपेंट पहनकर 'बड़े' बनना चाहते थे। समय बदल रहा था, मानसिकता भी बदल रही थी। लेकिन एक चीज़ नहीं बदली थी। राजू और वो चुपचाप लोगों का अवलोकन करते और आपस में हँसते थे। यही उन दोनों का 'गति देखना' था। 'साक्षी भाव' से यूँ लोगों को निहारना, 'विपश्यना' का यह उनका टाइप था। यह सिलसिला स्कूल के साथ-साथ मंदिर के पास बैठकर भी चला करता।

बहरहाल, लोगों की 'गति' तो वह ख़ूब देख रहा था, लेकिन समय की 'गति' का उसे अंदाज़ा न था। उसे पता न था। वे सावन के दिन थे। फ़िज़ा में मिट्टी का सौंधापन घुला था, हर तरफ मुस्कराहट बिखरी थी। उन दिनों उसके पापा आए थे बालाघाट से। उसे ठीक से याद नहीं, जाने की बात कैसे निकली, बस, यकायक तय हो गया कि अब वह आगे की पढ़ाई यहाँ नहीं करेगा।

और वो यहाँ से चला गया... जाते समय वह बहुत ख़ुश था, क्योंकि जाने का फ़ैसला ख़ुद उसने लिया था। जाने के बाद, पहले-पहल वह गर्मी की छुट्टियों में यहाँ आता भी था, लेकिन बाद में धीरे-धीरे

आना कम होता चला गया... और एक दिन बंद ही हो गया...

सालों बीत गए। अब वह बड़ा हो गया था, 25-26 साल का युवक। वह जॉब करने लगा था। अरसे बाद उसका फिर यहाँ आना हुआ। यह 2002-03 की बात रही होगी। अब खैरागढ़ पहले जैसा न था, हर चीज़ पर बदलाव ने अपने निशान छोड़ दिए थे। किलापारा में भी उसे वह पहले वाली बात नज़र नहीं आ रही थी। ऐसा लग रहा था, मानो हर चीज़ ने मौनव्रत ले रखा हो। सेठघर में न वो रेलमपेल थी, न शोर-शराबा। पुराने होटल खंडहर में तब्दील हो चुके थे। जो चेहरे उसने पहले खिले-खिले देखे थे, अब उनमें समय की धूल पड़ गई थी। राजू, गुड्डू भी दूसरे शहरों में नौकरी कर रहे थे। सबकुछ बदल चुका था...

बदलाव को देखते-देखते वह उस जगह पहुँच गया था, जहाँ उसके जीवन का सबसे क़ीमती समय गुज़रा था- उसका बचपन। वह बिल्कुल नहीं बदली थी, मंदिर, मैदान, पीपल... वैसे ही थे, निहारते हुए... निःशब्द...। पता नहीं, क्यों! एक अनजाना-सा अपराधबोध उसके भीतर आ गया। उसे लगा, यहाँ से जाकर उसने ग़लत किया था। उसके अंदर कुछ पिघलने लगा... झर-झर आँसू बहने लगे। वह पीपल से लिपट गया। समय का पहिया पीछे घूम रहा था, उसे सबकुछ याद आने लगा। वह जगह फिर से प्राणवान हो उठी...

उसे गेंद फेंकता पाँच-छह साल का राजू दिखा। गुड्डू की आवाज़ सुनाई पड़ी- हाउज़ दैट! उसने झल्लाकर बैट पटकते हुए ख़ुद को पाया। बैट के हत्थे की ग्रिप वह अपने हाथों में महसूस कर रहा था...। वह भावनाओं में गोते लगा रहा था, उसे वहाँ की एक-एक चीज़ बोलती मालूम पड़ रही थी। उसके अंदर कसक-सी उठी। काश! फिर से वे दिन लौट आते। लोग-बाग, सबकुछ पहले जैसा हो जाता। फिर से उसे बचपन जीने का मौक़ा मिल जाता। समय ठहर जाता। मन उसे छल रहा था... और यूँ छला जाना उसे अच्छा भी लग रहा था। वह महसूस कर रहा था कि यहाँ से दूर होकर वह ग़रीब हो गया है और यह ग़रीबी ऐसी है, जिसे वह दुनिया का सबसे दौलतमंद आदमी बनकर भी दूर नहीं कर पाएगा। यह वह जगह है, जिसकी कमी आज भी अपने में पाता है और कल भी पाता रहेगा...

वह ख़्यालों में खोया था, तभी उसकी नज़र ज़मीन पर पड़े एक टूटे पत्ते पर पड़ी। उसने उसे उठा लिया। एकटक देखने लगा। उसमें उसे अपना अक्स नज़र आ रहा था। उसे लगा कि वह भी उस टूटे पत्ते की तरह ही है, जो अपनी जड़ों से दूर हो चुका है और अब दोबारा कभी जुड़ भी नहीं पाएगा। उसने लम्बी साँस छोड़ी और थके क़दमों से वहाँ से चल पड़ा...

मित्रो, वह लड़का यह लेखक ही है, जो यादों की किताब के उन पन्नों को बार-बार पलटता रहता है, जिनमें बचपन ने रंग भरे हैं।

लेखक रायपुर में पत्रकार हैं। बचपन खैरागढ़ में बीता। सम्पर्क- 08269379850

शहर यानी सहारा, हौसला

*शहर की दो पीढ़ियों को पुस्तकों से जोड़े रखने वाले **समसुल होदा ख़ान** लोगों से मिले सद्भाव, सहयोग और प्रोत्साहन के लिए आभार जता रहे हैं*

मैंने 40 रुपए की जमा पूँजी से दुकान शुरू की थी। यह 1987 की बात है। मेरी दुकान को क़रीब 28 बरस हो गए हैं। मेरे नन्हे-मुन्ने ग्राहकों की एक पूरी पीढ़ी इस दौरान जवान और अधेड़ हो चुकी है। अपने बड़ों की उंगली पकड़कर दुकान पर आने वाले लोग अब अपने बच्चों के साथ आते हैं। इस दौरान मेरी आर्थिक प्रगति होती रही, वह अपनी जगह महत्वपूर्ण है, लेकिन मेरी सबसे बड़ी कमाई है खैरागढ़ के लोगों से मिला अपनापन, सहयोग और सद्भाव।

यूँ तो मैंने काफ़ी कम उम्र में काम शुरू कर दिया था। शायद 13 वर्ष की उम्र से। स्कूल के दिनों में दब्बू था। लोगों से बात करने, यहाँ तक कि सड़क पर चलने में भी संकोच होता था, एक अजीब-सी हिचकिचाहट होती थी। बाद में सुराना कॉलेज, दुर्ग में अध्ययन के दौर में मेरी यह संकोची प्रवृत्ति मिटी। मैंने इस कॉलेज में प्रवेश लिया, क्योंकि हमारे बड़े पिताजी स्व. हाफ़िज अनवर ख़ान के छोटे सुपुत्र शोएब अहमद ने यहीं से पढ़ाई की थी। वे फ़िलहाल डीएसपी के पद पर कार्यरत हैं। पिताजी स्व. अब्दुल अजीज़ ख़ान मुझे शोएब भैया जैसा ही बनाना चाहते थे। पढ़ाई के दौरान मुझे उनका मार्गदर्शन बराबर मिलता रहा। कॉलेज में मैं काफ़ी खुल चुका था। बेवजह की झिझक अब नहीं रही थी। मुझे यह कहने में गर्व है कि आज जिस मुकाम पर हूँ, मेरी शिक्षा का उसमें बहुत बड़ा योगदान है। मैंने कॉलेज में चित्रकारी भी की। शायद यह खैरागढ़ का ही असर है, जिसकी मिट्टी में कला और संगीत समाहित हैं।

बी.कॉम करने के बाद 1987 में मेरी खैरागढ़ वापसी हुई। स्वाभाविक रूप से शुरुआत में मैंने नौकरी के लिए कोशिश की, लेकिन नतीजा सिफ़र रहा। मेरे परिवार में शादी थी। वहीं दोस्तों से कामकाज के सिलसिले में बातचीत हो रही थी। एक विचार सूझा कि अपना कोई काम शुरू

करना चाहिए। मैंने सोचा, अब्बा से पैसे नहीं माँगूँगा, कम-से-कम अपना जेबख़र्च तो निकाल ही लूंगा। तब मेरे पास न धन था, न अनुभव। सिर्फ़ एक चाह थी और था एक हल्का-सा डर। मेरे पास कुल 40 रुपए थे। दुर्ग में रहने वाले मेरे भांजे आरिफ़ के दोस्त के पास पुरानी कॉमिक्स थीं, जो मैंने ख़रीद लीं। इस तरह मेरे और छोटे भाई नाज़िम के जीवन का एक महत्वपूर्ण अध्याय आरम्भ हुआ। हमने घर से ही किराए पर पुस्तकें देने का काम शुरू कर दिया। हम दोनों भाई रात को नगर की कपड़ा दुकानें बंद होने के बाद सामने पड़ीं पॉलीथिन उठाते और साफ़ करके पुरानी कॉमिक्स पर जिल्द लगाते। लगभग दो माह बाद बड़े पिताजी ने गोलबाज़ार स्थित एक दुकान हमें दे दी। यह हमारे लिए बहुत बड़ा सहारा था। उन्होंने कभी किराया नहीं लिया। सचमुच, वे मेरे लिए फ़रिश्ते के समान हैं।

चूंकि छात्र जीवन में मैं संकोची था, चाहकर भी सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाता था, इसलिए मैंने बच्चों की प्रतिभा सामने लाने के लिए कुछ करने की सोची। 1992 में दोस्तों और शुभचिंतकों के सहयोग से लाइफ़ लाइन सोसायटी का गठन हुआ। हमारा उद्देश्य प्रतिभाओं के प्रोत्साहन के साथ ही भाईचारे का एक स्वच्छ और सुंदर वातावरण बनाना भी था। सोसायटी में सज्जाद अहमद ख़ान, सुरेश ठाकुर, दिनेश गुप्ता, अनिल, कमल तिवारी, रोहित श्रीवास्तव, विनोद अग्रवाल, संतोष गहरवार, पवन चौबे आदि युवाओं की सक्रिय सहभागिता रही। हमारा पहला आयोजन था गणतंत्र दिवस की संध्या पर सांस्कृतिक कार्यक्रम का। इसके तहत फैंसी ड्रेस, एकांकी, एकल गीत, मिमिक्री, युगल नृत्य, एकल अभिनय जैसी विधाओं में स्पर्धाएँ रात एक बजे तक चलीं। नगरवासियों ने हमारे प्रयास को बहुत सराहा। गोपाल यादव के छोटे भाई स्व. नंदू हमेशा कहते थे कि आप ऐसे आयोजन निरंतर जारी रखना। उन्हें ख़ुशी थी कि उनके सात वर्षीय पुत्र नवीन को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने के लिए एक मंच मिला था। इस अवसर पर तत्कालीन विधायक रश्मिदेवी सिंह जी मुख्य अतिथि थीं। उन्होंने कवि जीवन यदु राही को सम्मानित किया।

इन प्रतियोगिताओं का पुरस्कार वितरण वसंत पंचमी के अवसर पर हुआ। खेमराज बाफना भवन में आयोजित समारोह में अधिवक्ता सत्यभामा सिंह मुख्य अतिथि थीं और अध्यक्षता समाजसेवी पन्नालाल गिड़िया ने की थी। विभिन्न विधाओं में ढेरों बच्चे और किशोर पुरस्कृत हुए। बहुत सारे नाम तो मुझे अब भी याद हैं- शाइनी जॉर्ज, महेश प्रजापति, कमलेश सोनी, विवेक, यशेष पोपट, संजय चोपड़ा, गिरीशपुरी गोसाईं, नाज़िम, आभास पाठक, शिलादित्य सिंह, कीर्ति ढोक, संजू अग्रवाल, पीसी जेम्स, सुलका बोस, रामसिंग, रामेश्वर चौहान, दिनेश ठाकुर, संगीता भीमटे, सुनीता भीमटे, अमीरुल क़ुरैशी, राहत अंजुम आदि। इस आयोजन में गुलाब छाजेड़, नितेश जैन, विनय वैष्णव, हनीफ़ मोती, सैय्यद सैफ़ुल्लाह, ज्ञानेश्वर यादव, दिनेश श्रीवास्तव का सहयोग रहा।

अगले बरस भी गणतंत्र दिवस के मौक़े पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों का क्रम जारी रहा। इस अवसर पर मुख्य अतिथि डॉ. महेश मिश्रा और अध्यक्ष अधिवक्ता कमलकांत पांडेय थे। कार्यक्रम

में वरिष्ठ पत्रकार लाल दुलेश्वर सिंह का सम्मान किया गया था। अगले साल हमने भारत-भारती संगठन का गठन किया। मक़सद था प्रतियोगी परीक्षाओं के प्रति छात्रों में रुझान पैदा करना। इसी उद्देश्य से सामान्य ज्ञान प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। हमारे तमाम प्रयासों में बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु' का मार्गदर्शन और सहयोग हमेशा मिला। सेवा भावना और समाज के लिए कुछ करने का भाव मुझे पिता से विरासत में मिला है। मेरी विभिन्न कोशिशें इसी से जुड़ी हैं। दिसम्बर, 1996 में हम युवाओं ने मुस्लिम वेलफेयर सोसायटी का गठन किया। इसमें नासिर क़ुरैशी, ज़ाकिर अली, इमरान क़ुरैशी, क़य्युम क़ुरैशी, ज़ाकिर ख़ान, कादर बेग, रफ़ीक सरधारिया, ज़फ़रउल्लाह ख़ान वग़ैरह शामिल थे। हमने स्व. अहसान ख़ान के विशेष सहयोग से जश्ने अदीब का नातिया प्रोग्राम आयोजित किया।

कुछ साल पहले तक सज्जन सिंह बघेल जी अपने दोस्तों के साथ जब-जब दुकान के सामने से गुज़रते, कुछ पल रुककर हमें प्रोत्साहित करते थे। वे हमें बराबर याद आते हैं। अपनी ज़िंदगी के उतार-चढ़ावों में मैंने एक चीज़ जानी है : दूसरों के लिए अच्छा सोचने और अच्छा करने में ही सच्चा सुकून मिलता है। एक मित्र ने कवि हरिवंश राय बच्चन का फ़लसफ़ा बताया, जो उन्होंने अपने सुपुत्र अमिताभ बच्चन से बाँटा था- 'अगर आपके मन का होता है, तो अच्छा, और मन का नहीं होता तो और भी अच्छा, क्योंकि वह ईश्वर के मन का होता है।' यानी उसमें आपके लिए आपकी सोच से भी बड़ी अच्छाई छुपी होती है। यह बात मुझे हर परिस्थिति में हौसला और उम्मीद देती है। मुझे अपने व्यवसाय, सामाजिक कार्यों और निजी जीवन में खैरागढ़ के बच्चों से लेकर बुज़ुर्गों का स्नेह, सहयोग और आशीर्वाद मिला है। इसके लिए मैं खैरागढ़ की गंगा-जमुनी तहज़ीब का हमेशा आभारी रहूँगा।

लेखक युवा व्यवसायी और समाजसेवी हैं। सम्पर्क- 09826171891

यादें जो महकाती हैं मन

*कुछ ख़ूबियों ने खैरागढ़ को खैरागढ़ बनाया। **विवेक गुप्ता** बता रहे हैं उन्हीं ख़ूबियों के बारे में जो हर खैरागढ़ी का जीवन हरदम महकाती हैं*

कुछ भी लिखने से पहले, मैं एक स्वीकारोक्ति करना चाहता हूँ। वह यह कि मैं गणित में बहुत कमज़ोर हूँ। अंकीय गणनाओं में भी और व्यावहारिक गणित में भी, जिसका इस्तेमाल लोग आपसी सम्बंधों में नफ़े-नुक़सान की गणना के लिए करते हैं। हालाँकि अपनी इस कमज़ोरी के बावजूद मुझे खैरागढ़ में कभी घाटा नहीं हुआ।

बात मेरे किशोरावस्था के शुरुआती दिनों की है। तब हमने पाठ्यपुस्तकों की नई-नई दुकान खोली थी। सुबह की पाली में लगने वाले मिडिल स्कूल के बाद घर आकर मैं दुकान पर बैठता था। सामने रहने वाले चम्पालाल चोपड़ा जी के घर पर एक सज्जन आए हुए थे। मेरे मित्र अतुल चोपड़ा और भवानी सिंह उन्हें नरेश भैया कहते थे, पर मेरा उनसे सीधा कोई परिचय न था। वे दुकान पर आए और उन्होंने कुछ पुस्तकें और कॉपियाँ ख़रीदीं। मैंने एक काग़ज़ के पुर्ज़े पर सबकी क़ीमतें लिखीं और कुल जोड़ उन्हें बता दिया। जब मैं लिखकर जोड़ रहा था, शायद तब वे मन में गणना कर रहे थे। आख़िर में उन्होंने मुझसे पुर्ज़ा माँगा। उस पर एक निगाह डालने के बाद उन्होंने कहा- 'इतने नहीं, ज़्यादा पैसे हो रहे हैं।' आमतौर पर लोग दुकानदार के हिसाब में गड़बड़ी पर तभी आपत्ति करते हैं, जब ज़्यादा पैसे लिए जा रहे हों। त्रुटि यदि ग्राहक के पक्ष में हो, तो वह चुप लगा जाता है। लेकिन यहां तो मामला उल्टा था। वे कह रहे थे कि तुम्हें मुझसे ज़्यादा पैसे लेने चाहिए।

यह है खैरागढ़ की मिट्टी का असर।

यहाँ कोई अपरिचित नहीं है, सब अपने हैं। जैसे छोटे बच्चे बस रिश्ते जानते हैं, नाम नहीं जानते, वैसे ही मैं लम्बे समय तक नहीं जानता था कि मुन्ना भैया अश्विनी हैं, सालिक भैया सतीश और चुन्नू भैया रवि। अब भी यह याद करने में थोड़ा वक़्त लग जाता है कि मोनू का नाम सचिन

है, चिंकू का अभिनव और रानू का नीलेश। और सिर्फ़ लोग ही नहीं, लोगों के घर भी अपने ही होते थे। शायद 1983-84 की बात है। स्व. रामकृष्ण गुप्ता के निवास पर टीवी आया था। यह मोहल्ले का पहला टीवी था, जिसे देखने तक़रीबन सारा मोहल्ला मौजूद था। बाद में इसी टीवी पर हमने रविवार को दूरदर्शन पर आने वाली कई फिल्में और रामायण के एपिसोड देखे। हमारे घर बहुत बाद में टीवी आया और केबल तो और भी बाद में लगा। तब तक हम भाई-बहनों ने पड़ोसियों के घर रामायण, चित्रहार के पचासों एपिसोड और अनगिनत फिल्में देख डाली थीं- बेहिचक, बेरोकटोक। बालपन में रेस-टीप खेलते हुए किसी भी घर का कोई कोना हमारे लिए वर्ज्य नहीं होता था। बेडरूम से लेकर बाथरूम तक और कबाड़ख़ाने से लेकर छत तक, हर जगह खेलना, छुपना, दौड़ना-भागना मानो हमारा मौलिक अधिकार था। तारीफ़ की बात यह है कि कभी किसी बड़े ने हमारे इस बालसुलभ अधिकार पर मामूली-सी भी बंदिश लगाने की कोशिश नहीं की।

यह तब भी बात है, जब पूरा खैरागढ़ भरोसे पर चलता था। गर्मी की छुट्टियों में मोहल्ले के बच्चों को विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पुस्तकें घर ले जाने दी जाती थीं। हमारा विश्वविद्यालय से कोई औपचारिक नाता नहीं था, यानी हम लोग वहां के छात्र नहीं थे। लेकिन हमारा जुड़ाव कहीं गहरा था। हमारे दिलीप (नामदेव) भैया लाइब्रेरी में काम करते थे और इस पहचान के आधार पर हम दर्जनभर बच्चे हर दिन पुस्तकें घर ले आते थे। पूरे परिसर में बच्चों पर कोई रोक-टोक न थी। कथक कक्षा, बावड़ी, दृश्य-कला विभाग, सितार-तबले की कक्षाएँ, सब हमारे स्वच्छंद विचरण के स्थान हुआ करते थे। स्थानीय पहचान को विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता देना खैरागढ़ में ही सम्भव है। भरोसे की बात आती है, तो लाल दुलेश्वर सिंह की छवि आँखों के सामने तैर जाती है। उन्होंने नवभारत के संवाद पत्र मुझे सौंप रखे थे और नया बस स्टैंड वाले जोगी जी को कह दिया था कि विवेक जो भी समाचार लिखकर दे, उसे सीधे नांदगाँव कार्यालय भेज दिया करना। नांदगाँव टाइम्स के संवाददाता के तौर पर भाई मनोज गिड़िया ने भी ऐसा ही विश्वास जताया। जीवन के अनुभवों की बुनियाद पर अब मैं कह सकता हूँ कि जो ख़ुद भरोसेमंद होता है, वही दूसरों पर भरोसा करता है। मुझे ख़ुशी है कि मुझे भरोसेमंद लोग मिले और लोगों ने मुझ पर भरोसा जताया।

तब शायद स्कूल भी खैरागढ़ी हुआ करते थे। मुझे प्राथमिक शाला क्रमांक एक में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे हैरान हो सकते हैं कि सरकारी शाला में पढ़ना सौभाग्य कैसे हो सकता है। पर यह था। उसी परिसर में थी शाला क्रमांक दो। यानी नम्बर एक और नम्बर दो स्कूल। दोनों में घोर प्रतिस्पर्धा शायद पीढ़ियों से चल रही थी, जो हमें विरासत में मिली थी। कौन कुकरा है, कौन कुकरी, इस विवाद के तहत कभी-कभी बच्चों के बीच नारेबाज़ी भी हो जाती थी। गणतंत्र दिवस पर फतेह मैदान में होने वाली व्यायाम प्रदर्शन स्पर्धा में हम लेझिम करते और नम्बर दो वाले टिकली फटाका लगे डम्बलों के साथ पी.टी.। अब मैं जानता हूँ कि यह पटाख़ा है, परंतु खैरागढ़ के लिए तो 'फटाका' ही सही शब्द है। बहरहाल, एक बार हम कक्षा में

बैठे थे, जो बरामदे में लगती थी। अचानक ख़ान गुरुजी तेज़ी से चिल्लाते हुए बाहर की तरफ़ दौड़े और उन्हीं के साथ पाठक गुरुजी भी। एक हलचल-सी मच गई। हमने देखा, नम्बर दो स्कूल की एक बहनजी के साथ आई उनकी भतीजी मैदान में खेल रही थी कि एक हुड़क्का बेंदरा उसके बेहद पास आ गया था। बच्ची को बचाने सारे लोग दौड़ पड़े थे। उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ था कि नम्बर दो स्कूल से सम्बंधित किसी बच्ची को बचाने हमारे गुरुजी क्यों दौड़े! बाद में समझ आया कि प्रतिस्पर्धा और दुश्मनी अलग-अलग होती है। यह सबक़ भी खैरागढ़ ने ही दिया।

उन दिनों (अहमद) ख़ान गुरुजी की पिटाई को लेकर बच्चों के बीच बड़ा ख़ौफ़ हुआ करता था। हालांकि छड़ी तो (अशोक) पाठक गुरुजी और अन्य बहनजियों की भी चलती थी, पर डर ख़ान गुरुजी के मुक्कों से ही लगता था। परंतु उनकी ख़ासियत कुछ और है, जिसकी ज़रूरत आज की दुनिया में अधिक है। तब स्कूल में नागपंचमी और वसंत पंचमी पर पूजा होती थी और श्यामपट पर चॉक से चित्र ख़ान गुरुजी ही बनाते थे। सच कहूँ, तो पहली से पाँचवीं के उन पाँच बरसों के दौरान कभी लगा ही नहीं कि 'ख़ान' कुछ अलग होता है। वह तो बड़े होकर जाना कि ख़ान का अलग मज़हब होता है और पाठक का अलग। स्कूल में तो वे बस गुरुजी थे। बेहद विनम्र और सज्जन। मिडिल स्कूल में भी ऐसे ही एक शिक्षक मिले थे, रसीद क़ुरैशी। गायन-वादन में प्रवीण रसीद सर हमें सरस्वती वंदना और मातृभूमि की वंदना सिखाया करते थे। यह समरसता खैरागढ़ की विशेषता है। जश्ने-ईद मिलादुन्नबी का जुलूस जब हमारे घर के सामने से गुज़रता, तो हर साल एक सांवले-से सज्जन मुझे और बबा (दादाजी) को इत्र लगाते। उस इत्र की ख़ुशबू मैं अब तक महसूस करता हूँ। इस सद्भाव की अनुभूति जातियों और वर्गों में भी हुई। नम्बर एक स्कूल में कमला बहनजी, झा बहनजी, यादव बहनजी, श्रीवास्तव बहनजी और कुमारी बहनजी अलग-अलग पारा-मोहल्लों से आती थीं। बावजूद इसके उनमें कोई फ़र्क़ न था। खाने-पीने, बोलने-बतियाने में सभी बहनजी बहनों की तरह थीं।

और बड़े ही क्यों, बच्चों के बीच भी यही माहौल था! मेरे सारे बालमित्र नम्बर एक या नम्बर दो स्कूल के ही हैं। सारे के सारे ठेठ खैरागढ़ी। फोन पर बात होती है, तो हैलो की जगह हम हाँ भतीज और हाँ भाँचा कहते हैं। बरसों से हैदराबाद में बसे नरेंद्र चंदेल के लहज़े में हैदराबादी स्पर्श आ गया है, लेकिन भतीज और भांचा नहीं छूटा है। राजस्थान में रह रहे भवानी सिंह का भी यही हाल है, जो खैरागढ़ का हालचाल खैरागढ़ में रह रहे ललित मुणोत और सर्वेश ओसवाल से ज़्यादा रखता है। मुम्बई में स्थायी ठिकाना बना चुका शैलेंद्र चोपड़ा मुम्बइया नहीं हो पाया है, तो रायपुर में बस चुके अमित जैन की बोली अब तक खैरागढ़िया है और आजीवन रहेगी। अतुल चोपड़ा तो वास्तव में अतुल्य है, जो खैरागढ़ की ख़ूबियों-ख़ासियतों के बारे में इतना जानता है कि बाक़ी मित्र मिलकर भी नहीं जानते और जिसका मारवाड़ी मूल का परिवार बोली के मामले में ठेठ छत्तीसगढ़िया है।

यह भी खैरागढ़ की धरती की विशेषता है कि यह सबको अपना बना लेती है, अपने रंग में रंग लेती है। यहां खैरागढ़िया गुजराती योगेंद्र जाड़ेजा रहते हैं, जो घर से निकलते वक़्त यह न कहें कि 'माँ, साइकिल मजेसे जावे सूँ', तो आप अनुमान भी न लगा सकें कि उनका गुजरात से भी कोई नाता है। निखिल सिंह, ज़ाकिर भाई और चंद्राकर जी के साथ उनकी चौकड़ी विचित्र भी है और विशिष्ट भी। अलग-अलग पृष्ठभूमि और पेशों के लोग जब मिलते हैं, तो एक पक्का खैरागढ़िया रंग बनता है। साहित्यकार डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव को खैरागढ़ बार-बार खींच लाता है। मंडला से आए रमाकांत श्रीवास्तव सर की तरह न जाने कितने ऐसे लोग हैं, जो पूरे खैरागढ़िया बन चुके हैं। अनुराग तुरे पक्का मकान बनाकर अब इस क़स्बाई शहर की ज़मीन से जुड़ गए हैं। खैरागढ़ की धरती ने सभी को स्वीकार किया है। लगभग 400 वर्ष पहले वाणिक (बनिया) समाज के कुछ लोग उत्तरप्रदेश के कड़े मानिकपुर से निकलकर खैरागढ़ में बसे थे और सदियों बाद अब हमारे लिए जो कुछ है, खैरागढ़ ही है। इसी तरह अग्रवाल समाज के लोग आए होंगे हरियाणा से या जैन समुदाय का मूल राजस्थान में होगा अथवा राजफेमली में लोगों की जड़ें असम, मांडा, बघेलखंड जैसी जगहों पर होंगी, लेकिन सब सौ फ़ीसदी खरे और पक्के खैरागढ़िया हैं।

खैरागढ़ में जन्म लेना या यहाँ होना भले ही संयोग की बात हो, पर खैरागढ़िया होना एक गुण है। यह एक गुण सैकड़ों अच्छाइयों के रूप में अपनी ख़ुशबू बिखेरता है। ऐसी ही एक मुट्ठी सुगंध डॉ. महेश मिश्रा की 'चल भाग' में घुली हुई है। बचपन में जब हम बीमार पड़ते, तो डॉ. मिश्रा के क्लीनिक जाते। और दवा की पर्ची लेने के बाद जब पूछते, 'अंकल...फीस?' तो हर बार यही जवाब मिलता, 'चल भाग!' मेरी जानकारी में मोहल्ले के बच्चों से वे कोई फीस नहीं लेते थे। स्नेह की यह सुगंध उस प्रसंग में भी समाई है, जब एक पुरस्कार के सिलसिले में भोरमदेव जाना था और कॉलेज के प्राचार्य (स्व.) हरिदर्शन सिंह बघेल ने मुझे अपनी ऊनी कोटी यह कहकर दे दी थी कि वापसी में तुम्हें ठंड न लगे।

खैरागढ़ परवाह करता है। यह रिश्ते निभाता है। हमारे घर एक ही रौताइन रिकॉर्ड 30 बरस से भी ज़्यादा समय तक काम करती रही। उसे महज़ काम वाली बाई कहना उचित नहीं, क्योंकि जब बबा और दाई का देहांत हुआ था, तो वह बैठकर रोई थी। शहर से लगे मुड़पार से बारहों महीने सुबह-शाम पैदल चलकर वह सिर्फ़ हमारे यहाँ झाड़ू-बरतन के लिए आती थी। यहाँ जुड़ाव ऐसा ही है, जिसे किसी नाम की ज़रूरत नहीं। इसी जुड़ाव के चलते कमल महोबे बबा को रोज़ाना 'बड़े बाबू राम-राम' कहते थे। हालाँकि बबा दुर्ग के ज़िला कार्यालय में हेड क्लर्क पद से रिटायर हो चुके थे और महोबे विश्वविद्यालय में कार्यरत थे, फिर भी बड़े बाबू और बाबू साहब का यह जुड़ाव हमेशा बना रहा। इस जुड़ाव में न तो कोई स्वार्थ था, न औपचारिकता, बस रोज़ की राम-राम उसे ताज़ा रखती थी। खैरागढ़ रिश्तों को संजोता है। तुरकारी पारा में रहने वाले संतोष गुप्ता रिश्ते में हमारे दादाजी हैं, पर हम उन्हें मौसाजी कहते हैं। क्यों? क्योंकि मेरी मम्मी की चचेरी बहन से उनकी शादी

हुई थी। बाद में मौसी का निधन हो गया, तो उनकी जगह जो आईं, वे भी हमारी मौसी ही रहीं। केवल सम्बोधन से ही नहीं, उनके स्नेह और आत्मीयता से हमेशा यही महसूस हुआ कि वे सगी मौसी ही हैं। रिश्तों की डोरियाँ यहाँ ऐसे गुंथी हैं कि पिंचू और अतुल्य मेरे चाचा हैं, पर मुझे भैया कहते हैं। यहाँ आत्मीय सम्बोधनों को सहेजकर रखा जाता है। सो, यहाँ मेरा कोई 'अंकल' नहीं है, सब चाचा ही हैं और तमाम तरक़्क़ी के बावजूद अपने मित्रों के बच्चों के लिए मैं अब तक चाचा ही हूँ, अंकल नहीं हुआ हूँ। यहाँ बच्चे अब भी अपने पिता के नाम से जाने जाते हैं, इसीलिए 38 वर्ष की वय में पहुँचने के बाद भी कभी-कभी मुझे 'गुरु गुप्ता सर के लइका' के रूप में पहचाना जाता है।

खैरागढ़ियों की पहचान खैरागढ़ से है और खैरागढ़ की पहचान खैरागढ़ियों से। इस पहचान में हर ख़ास और आम का योगदान है। लगभग बारह बरस पहले भोपाल नवभारत के समाचार सम्पादक पंकज पाठक ने जब जाना कि मैं खैरागढ़ से हूँ, तो बोले- 'वहाँ के देवव्रत सिंह से मैं परिचित हूँ।' उससे भी पहले, दिल्ली में मिले टीवी पत्रकार अतुल अग्रवाल ने कहा- 'लोक कलाकार दादू श्रीवास को मैं जानता हूँ।' वे चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय में उनसे मिले थे। हम क़िस्सा सुनते थे कि बख्शी जी सैर के दौरान पुस्तक पढ़ते-पढ़ते डोंगरगढ़ पहुँच गए थे। आश्चर्य भरे ऐसे वास्तविक क़िस्सों के क़िरदार और भी हैं। सहपाठी देवेश महोबे अपने दादाजी के बारे में बताता था, जो फिल्म देखने के लिए साइकिल पर राजनांदगाँव चले जाते थे। ललित के वयोवृद्ध दादाजी भीखमचंद मुणोत को मैंने आवर्धक लेंस की मदद से किताबें पढ़ते देखा है। हर एक व्यक्ति, प्रत्येक चीज़ खैरागढ़ की विशेषता है। किसी ज़माने में यहाँ के रसगुल्ले मशहूर थे (शायद अब भी हों)। मेरे लिए तो गुलाबचंद्र अग्रवाल के घर बनने वाली शक्कर की मिठाई गट्टा और ठेले पर मिलने वाली लक्ष्मण आइसक्रीम का स्वाद भी ख़ास है, जो कहीं और नहीं मिला।

खैरागढ़ कहीं और मिल भी नहीं सकता, इसलिए हर खैरागढ़ी इसे अपने साथ रखता है। कुछ समय पहले तक निशांत बहादुर सिंह के रूप में एक खैरागढ़ मेरे साथ भोपाल में रहता था। अब भी यह कभी-कभी बॉबी (रोहित) श्रीवास्तव के ठहाकों में गूंजता है, तो कभी उनके इस मज़ाक़िया डायलॉग में कि लेड़गई बात मत बोलो भतीज। एक खैरागढ़ मेरे मुँह से कूदकर बाहर आने को बेताब लगता है, जब मैं भोपाल के हाट में सब्ज़ीवाले से यह पूछते-पूछते रुक जाता हूँ कि का भाव बंगाला? जब बिटिया अपने बाल बिखेरकर कहती है कि पापा, मैं तो जकाड़ो बन गई या कभी शरारती हँसी के साथ बताती है कि मैं तो फुसी मूँ में पानी पी गई, तो खैरागढ़ भी चहकने लगता है। कभी यह आनंद टहनगुरिया की पेंटिंग से कूदकर सामने आ जाता है, तो कभी घर पर बनने वाले अगहन बृहस्पत के चौक में चमकने लगता है। खैरागढ़ नाना रूपों में झलकता रहता है और किसी भी क्षण ओझल नहीं होता।

मैल्कम ग्लैडवेल की किताब 'आउटलायर्स' सफलता के पीछे के कारणों की पड़ताल करती

है। यह बताती है कि कामयाबी केवल प्रतिभा के बल पर नहीं मिलती, इसमें आपके जन्म वर्ष, जन्म माह समेत तमाम संयोगों का योगदान होता है। इन सारे संयोगों, जिन्हें हम क़िस्मत भी कह सकते हैं, में एक महत्वपूर्ण संयोग है, आपका जन्म स्थान। आप कहाँ जन्म लेते हैं, यह न सिर्फ़ आपके व्यक्तित्व, बल्कि पूरे जीवन को प्रभावित करता है। पैदा होने की जगह आपको कई ख़ूबियाँ देती है। खैरागढ़ से मिलने वाली एक बड़ी ख़ूबी, मैं समझता हूँ, लेखन क्षमता है। यहाँ साहित्यकार, शिक्षक और पत्रकार ही नहीं, वकील, क्लर्क और कारोबारी भी कुछ न कुछ लिख लेते हैं। मुझे लेखन और पठन-पाठन के संस्कार घर पर मिले और शहर के परिवेश ने इसे निखारा। मैं आज इसी लेखनी की रोटी खा रहा हूँ। एक राष्ट्रीय अख़बार में ज़िम्मेदारी के पद पर हूँ। यहाँ लिखा गया हर शब्द 14 राज्यों के क़रीब दो करोड़ पाठकों तक पहुँचता है। यह मेरी उपलब्धि नहीं, परंतु छोटा-सा ही सही, इसमें एक हिस्सा मेरा भी है।

सफ़र जारी है। राह में कभी उत्साह के क्षण मिलते हैं, तो कभी निराशा भी होती है। ऐसे में, एन.के. श्रीवास्तव सर की एक बात याद आती है, जो वे अपने घर पर आठवीं कक्षा के हम छात्रों को ट्यूशन पढ़ाते हुए कभी-कभी कहा करते थे- 'देखना, गुप्ता हाथ मारेगा!' वे हालाँकि आठवीं के परीक्षा परिणामों को लेकर ऐसा कहते थे, पर दो दशक से अधिक बीत जाने के बाद भी, मेरे मन में यह वाक्य जीवंत है, तो इसलिए कि मैं इस एक वाक्य को विविध रूपों में देखता हूँ- चुनौती, सराहना, सहयोग, भरोसा, विश्वास, प्रेरणा, शुभकामना, आशीर्वाद...।

खैरागढ़ ने यही सब तो दिया है। जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा, गणित में अपनी जन्मजात कमज़ोरी के बावजूद मैं खैरागढ़ में कभी घाटे में नहीं रहा।

लेखक दैनिक भास्कर (मैगज़ीन विभाग) में डिप्टी न्यूज़ एडिटर हैं। सम्पर्क- 09826824926

यह समापन नहीं है।

यह तो शुरुआत है। यह खैरागढ़ की संस्कृति, परम्परा, पहचान और धरोहर को लिपिबद्ध करने, संजोने का श्रीगणेश है।

पुस्तक के सम्बंध में आपके सुझाव और समीक्षात्मक टिप्पणियाँ आमंत्रित हैं, जिन्हें अगले संस्करण में शामिल किया जाएगा।



बालकृष्ण गुप्ता 'गुरु'

पिता- स्व. श्री रामगोपाल गुप्ता, माता- स्व. श्रीमती अनुसुइया गुप्ता
जन्म- 31 दिसम्बर (खैरागढ़), शिक्षा- बीएससी, एमए

लगभग 40 वर्षों से लेखनरत। तमाम राष्ट्रीय और स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में लघुकथाएँ, व्यंग्य और कविताएँ प्रकाशित होती रही हैं। एक लघुकथा-संग्रह 'गुरु-ज्ञान : आईना दिखातीं लघुकथाएँ' 2014 में प्रकाशित और चर्चित। हायर सेकंडरी स्कूल के प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त। अब स्वतंत्र अध्ययन, लेखन और समाजसेवा।

सम्पर्क- 09424111454, ईमेल- ggbalkrishna@gmail.com